THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182759

UNIVERSAL
LIBRARY

आधुनिक कविता की भाषा

प्रथम खण्ड

भाग १ व २

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी
बार-एट-लॉ

181.09
C49A

गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

OUP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.09 C48A Accession No. H1938

Author चतुर्वेदी, ब्रजकिशोर

Title आधुनिक कविता की भाषा

This book should be returned on or before the date last marked below

आधुनिक कविता की भाषा

[आधुनिक खड़ी बोली के लोकप्रिय तीस (३०) काव्य ग्रन्थों की समीक्षा]

प्रथम खण्ड

भाग

लेखक

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

बी० ए०, एल-एल० बी०, बार-एट-लॉ

Sarvodaya Sahitya Mandir,
Kothi (Bus Stand) Hyderabad-(A.

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स

गयाकुञ्ज, आगरा

संवत् २००८

१९५१
प्रथम संस्करण
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम खण्ड मूल्य ३॥)
भाग १ व २
द्वितीय खण्ड मूल्य ३)
भाग ३
सम्पूर्ण

मुद्रक
जगदीशप्रसाद एम० ए
एज्यूकेशनल प्रेस, आग

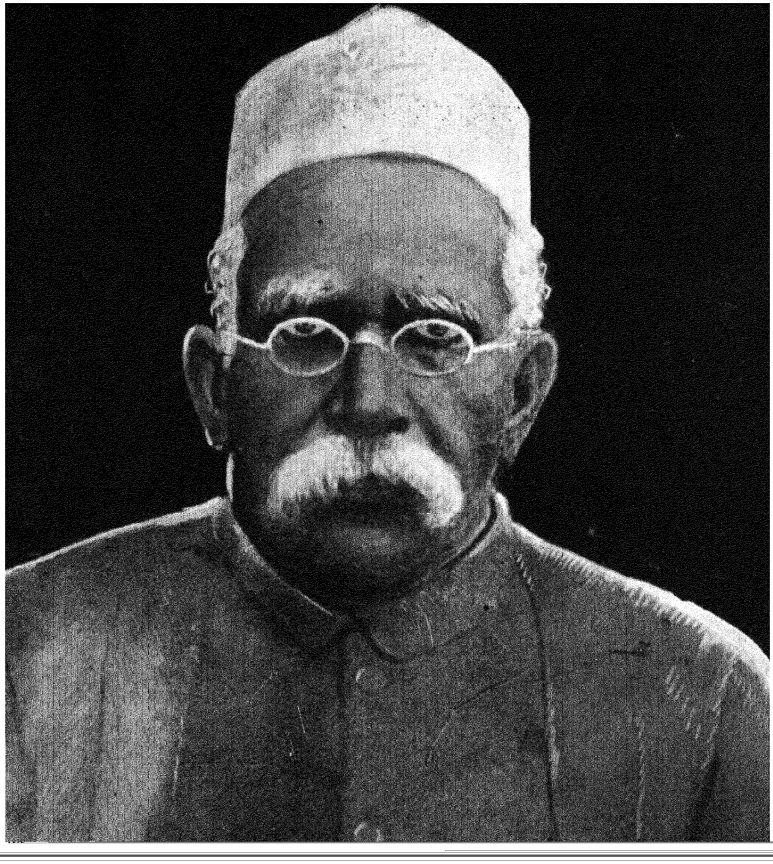

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

जिनके अथक परिश्रम द्वारा हमारी भाषा परिमार्जित
एवं परिष्कृत हो पाई और जिनके यथार्थवाद
द्वारा हिन्दी-साहित्य में नवीन युग का
श्रीगणेश हुआ उन स्वर्गवासी
स्वनामधन्य परमपूज्य

आचार्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

की

पुण्य स्मृति

में

लेखक

भूमिका

आलोचक के लिए बहुज्ञ एवं विशेषज्ञ होने की आवश्यकता बताई गई है। मैं न तो बहुज्ञ हूँ और न विशेषज्ञ। संस्कृत भाषा तो बहुत दूर की बात है, हिन्दी-साहित्य एवं भाषा के विधिवत् अध्ययन करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त नहीं हो पाया। हिन्दी-भाषा-भाषी होने के कारण, प्रारम्भ से हिन्दी-कविता में प्रेम अवश्य रहा है। 'भारत-भारती' के जन्म से लेकर आजतक, खड़ी बोली में, जो-जो काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उन्हें मैंने बड़े प्रेम से पढ़ा। कालान्तर में, मुझे यह प्रतीत हो उठा कि हमारे कवियों में प्रतिभा की कमी नहीं है; भाषा भी प्राञ्जल एवं मधुर होती जा रही है; किन्तु, रचना में असावधानी के कारण शब्द-दोष, अर्थ-दोष, व्याकरण-दोष एवं गलत मुहा-विरों और अशुद्ध लोकोक्तियों की भरमार होती जा रही है। प्रसंगानुकूल भाषा एवं शब्द-चयन पर ध्यान नहीं दिया जा रहा; भाषा-प्रवाह बिगड़ता जा रहा है; पुनरावृत्तियाँ, अनौचित्य एवं अनैतिहासिकताएँ बड़े-बड़े कवियों की कृतियों में स्थल-स्थल पर मिल जाती हैं और भाषा में एकरूपता अभी तक नहीं आ पाई है। कविता में प्रसाद गुण की अत्यन्त आवश्यकता होती है किन्तु छायावाद की कृपा से अस्पष्ट भाषा एवं अस्पष्ट भाव साहित्य में ऊँचे स्थान पर पहुँच चुके थे।

हिन्दी की कविता अव्यवस्थित एवं अस्त-व्यस्त भाषा और अस्पष्ट समालोचना की केन्द्र-भूमि बन रही थी। एक ओर तो कोरी प्रशंसात्मक समीक्षा निकल रही थी और दूसरी ओर केवल व्यक्तिगत द्वेष-प्रेरित आलोचना होती थी। इन परिस्थितियों में सन् १९४१ के दिसम्बर माह में इन्दौर की 'वीणा' के तत्कालीन सम्पादक पं० कालिकाप्रसाद दीक्षित ने मुझसे 'कविता की भाषा' पर एक लेखमाला लिखने के लिए कई बार आग्रह किया। मेरे सम्मुख प्रश्न यह था कि कवियों के सुकुमार-हृदय को दुखाया जाय अथवा भाषा को विकृत होने दिया जाय? काव्य-संसार से दूर, कृषि-शास्त्र में, बताया यह गया है कि भूमि की ऊपरी मिट्टी में उर्वर-शक्ति विद्यमान रहती है जिसकी

रक्षा की जानी आवश्यक है। वर्षा के जल का वेग खेतों की इस ऊपरी मिट्टी को जब बहा ले जाता है तब कालान्तर में शस्य-संपन्ना भूमि की उर्वर-शक्ति में कमी होने लगती है, खेतों में छोटी-छोटी नालियाँ बनने लगती हैं जो खेतों को काटने लगती हैं और धीरे-धीरे हरे-भरे खेत बीहड़ में परिवर्तित हो जाते हैं। भूमि का कट-कटकर बहना आज भारत के हर राज्य में प्रबल रूप में दिखाई दे रहा है। मीलों तक लम्बी खाई खोद कर 'कन्टूर' बन्ध बनाने एवं खेतों की बड़ी मेंड़े तैयार करके ऊपरी मिट्टी बचाने के उपाय स्थान-स्थान पर सोचे जा रहे हैं। किन्तु हमारी साहित्यिक भूमि की ऊपरी मिट्टी के संरक्षण की ओर कितने विद्वानों का ध्यान जा पाया है? यदि हिन्दी कविता के शस्य-श्यामल खेत ऊजड़ हो गए तो काव्य-क्षेत्र में बन्ध और बड़ी-बड़ी मेंड़े कौन बनावेगा? क्या आधुनिक काव्य-क्षेत्र में खाई और खन्दक, बड़े होने के पूर्व ही, कोई उपाय नहीं सोचा जा सकता? यही सब सोचते-सोचते 'वीणा' में लेखमाला लिखने के लिए मैं विवश हो गया। यह लेखमाला एक वर्ष तक (सन् १९४२ में) प्रकाशित होती रही।

सन् १९४४ में प्रयाग के 'तरुण' सम्पादक श्री कृष्णनन्दन प्रसाद के आग्रह के कारण मुझे एक लेखमाला लिखने को पुनः विवश होना पड़ा। यह लेखमाला 'तरुण' के प्रायः १४-१५ अङ्कों में सन् १९४४-१९४५ में निकलती रही। इस लेख माला के सभी लेख द्वितीय भाग में मिलेंगे। 'वीणा' के लेख प्रथम भाग में हैं। सन् १९४३ से १९४७ तक कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गए जो विक्रम (उज्जैन), हिमालय (पटना), राष्ट्रधर्म (लखनऊ), कामना (कोटा), ज्योति (मंदसौर), साप्ताहिक हिन्दुस्थान (बम्बई), साप्ताहिक नव-भारत (दिल्ली), साप्ताहिक नवयुग (दिल्ली), साप्ताहिक ऊषा (गया) और साप्ताहिक 'जयाजी प्रताप' ग्वालियर में प्रकाशित होते रहे। इन लेखों में से 'कामायनी' पर लिखे गए निबन्ध प्रथम भाग में 'वीणा' के लेखों के साथ रख दिए गए हैं। शेष निबन्ध तृतीय भाग में हैं। ये लेख किसी ऐतिहासिक क्रम से नहीं लिखे गए। जो काव्य-ग्रन्थ सामने आया, या किसी मित्र की कृपा से मिला, उसे आद्योपान्त कई बार पढ़ कर, अपनी समझ के अनुसार, उस पर आलोचना लिख लेता और जिस पत्र या पत्रिका की माँग पहिले आती उसको

मेज दिया करता था। सिलसिलेवार लेख लिखकर पुस्तक छपाने का विचार उस समय नहीं था। इसीलिए न तो लेखों की प्रतिलिपि मेरे पास रहती थी और न पांडुलिपि ही वापिस मँगाता था। सम्पादक की कृपा हुई तो 'रिप्रिन्ट' आजाते नही तो पत्र या पत्रिका के अङ्क से ही सन्तोष कर लेना पड़ता था। कई निबन्ध कट-छँट कर छोटे भी हो जाते थे और कई में बीच-बीच में, छोटे-छोटे शीर्षक भी लगा दिए जाते थे। जैसे ये उस समय छापे गए वैसे ही इस पुस्तक में मिलेंगे। कार्याधिक्य के कारण, मुझे इतना समय नहीं था कि इन निबन्धों को दुबारा लिखता। ये सारे निबन्ध, भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व के लिखे हुए हैं अतएव जहाँ किसी लेख में किसी राजनैतिक परिस्थिति अथवा किसी 'वाद' का उल्लेख आया है, वह लेख उन्हीं परिस्थितियों तक सीमित समझा जाय जो लेख लिखते समय उपस्थित थीं। सारे निबन्ध, महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों, अथवा पुस्तकालयों के वातावरण से बहुत दूर बैठ कर लिखे जाने के कारण इनमें साहित्य-शास्त्र के भारी-भरकम शब्द–'अविमृष्ट विधेयांश' 'पतत्प्रकर्ष', समाप्तपुनरात्त' 'अर्थान्तरैकवाचक', 'अभवन्मतसम्बन्ध', 'सनियम' अथवा 'अनियम परिवृत्तता', 'त्यक्त पुनः स्वीकृत', 'लक्षणा मूलाध्वनि', 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि', 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' इत्यादि नहीं मिलेंगे। ये लेख सरल हिन्दी भाषा में, आधुनिक काव्य-ग्रन्थों की भाषा पर, अपने सरीखे, संस्कृत-साहित्य-शास्त्र से अनभिज्ञ कविता प्रेमी व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखे गए हैं अतएव इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के प्रमाणों से कहीं ये बोझिल न हो जायँ।

मेरा विचार अभी भी अन्य काव्य ग्रन्थों पर समीक्षा लिखने का था, किन्तु कई वर्षों से मेरे साहित्यिक मित्रों का आग्रह यह हो रहा था कि जो लेख निकल चुके हैं उन्हें एकत्र कर पुस्तकाकार कर दिया जाय। इतने लेखों का एक स्थान पर संकलन करना मेरे लिए कठिन कार्य था। श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम. ए; एल. एल. बी. साहित्य-रत्न का मैं आभारी हूँ जिन्होंने बड़े परिश्रम से इन लेखों का संकलन किया, कई लेखों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं और 'प्रूफ़' शुद्ध करने में भी सहयोग दिया। संकलन होने के अनन्तर, कागज़ की कमी के कारण पुस्तक छपाने में लगभग साढ़े तीन साल तक बड़ी कठिनाई आती रही।

श्रद्धेय राजर्षि टंडनजी की इच्छा यह थी कि यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) से प्रकाशित होती परन्तु कई कारणों से उनकी इच्छा पूरी नहीं हो पाई, इसका मुझे दुःख है। इसमें अधिकतर दोष मेरा ही है। सम्मेलन ने एक बार पांडुलिपि काग़ज़ की कमी के कारण वापिस करदी थी और जब पांडुलिपि छपाने के लिए फिर वहाँ से माँगी गई तब तक मैं प्रयाग के एक प्रकाशक को छपने के लिए दे चुका था। जब छपने की वहाँ भी व्यवस्था न जम पाई तब थक कर मैंने पांडुलिपि वापिस मँगाली और पुस्तक छपाने का विचार ही छोड़ दिया। पश्चात् श्री प्रो० गोपाल व्यासजी, एम. ए., सा० रत्न ने स्वयं अपने ऊपर इस पुस्तक के छपाने का उत्तरदायित्व लेकर पांडुलिपि मुझसे ले ली और बड़ी शीघ्रता से प्रकाशक (श्री गयाप्रसाद एण्ड सन्स) से बातचीत कर पुस्तक छपाने का प्रबन्ध कर दिया। प्रूफ़ देखने का भी मुझे समय नहीं था! यह भार भी व्यासजी ने अपने ऊपर लेकर बड़ी लगन एवं तत्परता से कार्य-सम्पादन किया है। सच बात यह है कि यदि व्यासजी का सहयोग न होता तो यह पुस्तक छप नहीं सकती थी। मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। प्रो० गुरुप्रसाद जी टडन, एम. ए., एल. एल. बी., (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर) एवं श्री व्यासजी ने प्रेस को जाने के पूर्व एक बार आद्योपान्त पांडु-लिपि पढ़ लेने का कष्ट उठाया और कुछ संशोधन सुझाए जिसके लिए भी मैं उन दोनों सज्जनों का आभारी हूँ। 'साहित्य-समीक्षा' के निबन्ध में मुझे विशेष रूप से श्री प्रभाकर माचवे, एम. ए; सा० रत्न से सहायता मिली थी। दो-एक अपने लेखों में उन्होंने मेरे निबन्धों पर कुछ टीका टिप्पणियाँ भी की थीं जिनसे भी मुझे नई प्रेरणा मिली। अतएव उनको भी मैं धन्यवाद देता हूँ। वयोवृद्ध साहित्याचार्य डाक्टर हरि रामचन्द्र दिवेकर, एम. ए; डी. लिट. (पैरिस) से उज्जैन में मुझे कई बार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र पर बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कुछ नई बातों की जानकारी भी प्राप्त हुई जिसको मैं यदाकदा उपयोग में लाता रहता हूँ। 'साहित्य समीक्षा' लिखने में भी मुझे उनसे सहायता मिली थी। अतएव उनको भी धन्यवाद देता हूँ। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि न तो मैं साहित्यिक हूँ और न विद्वान्। यदि पं० कालिकाप्रसाद दीक्षित मुझे बार-बार लिख कर विवश न कर देते तो मेरे लेखों का श्रीगणेश ही न हो पाता।

अतएव उनका एवं श्री कृष्णानन्दनप्रसाद का तथा उन सब पत्र-पत्रिकाओं (एवं उनके सम्पादकों) का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनके नाम ऊपर आ चुके हैं। अन्त में, मैं प्रकाशकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी विशेष देख-रेख में पुस्तक इतनी जल्दी छप गई।

× × × ×

कवि-कर्म बड़ा कठिन है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है। केवल तुक मिलाने में ही घण्टों नष्ट हो जाते हैं। फिर उचित शब्द का उचित प्रयोग और वाक्य-संघटन में उस शब्द को उचित स्थान पर बैठा कर विषय और उसकी अभिव्यक्ति का सामंजस्य करना और भी कठिन है। इसके उपरान्त अपने भावों और उद्वेगों को पाठक अथवा श्रोता के हृदय में पहुँचाना और पाठक और श्रोता के हृदय में भी सदृश भावों और उद्वेगों का सञ्चार करना और भी कठिन है। कवि उस रथी के सदृश होता है जो रथ में जुते हुए घोड़ों को सम गति से चलाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई घोड़ा अधिक तीव्रगति से चञ्चल होकर भागने का प्रयत्न करता है तो लगाम खींचकर उसको रोकता है, यदि दूसरा घोड़ा मन्द पड़ता दिखाई देता है तो उसको चाबुक मार कर तेज करता है। उसको सड़क का भी विचार करना पड़ता है और गन्तव्य स्थान का भी। सभी घोड़ों को काबू में करके अपनी इच्छानुसार नियमित गति से रथ को जो गन्तव्य स्थान पर ले जाने में समर्थ होता है वही रथी सफल माना जाता है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सामंजस्य करके जो कवि अपने भावों को हृदयग्राही बना सकता है वही सफल कवि माना जाता है। ऐसी कठिनाइयों में लिखे गए काव्य पर जब कटु आलोचनाएँ होती हैं तो यह स्वाभाविक है कि सुकुमार-हृदय को ये आक्षेप असह्य हो उठें। ये लेख लिखने में, और तदुपरान्त, पुस्तकाकार छपाने में मुझे इसीलिए हिचकिचाहट थी। जिन कवियों की कोमल-कान्त-पदावली एवं स्निग्ध भावनाओं द्वारा खड़ी बोली की काव्य-वाटिका सजाई गई है उनका हृदय दुखाना मुझे अभीष्ट नहीं था। किन्तु इस भय से कि कहीं बड़े बड़े भाषा-दोष, भद्दे प्रयोग एवं अनौचित्य 'आर्ष-प्रयोग' होकर हमारी भाषा को विकृत न करदें मुझे ये लेख लिखने और पुस्तक छपाने को विवश होना पड़ा। कवियों के

हृदयों पर मेरे लेखों से जो आघात पहुँचा है अथवा इस भूमिका के कतिपय उल्लेखों से पहुँचे उसके लिए मैं उनसे हार्दिक क्षमा-याचना करता हूँ। उनकी कृतियों का मैंने रसास्वादन भी पर्याप्त मात्रा में किया है जिसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद भी देता हूँ। लेख छप जाने के अनन्तर स्वनामधन्य श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय और आचार्य पं० केशवप्रसाद जी मिश्र के देहावसान से हमारे साहित्य-संसार को बड़ी हानि हुई है। स्वर्गीय आत्माओं के प्रति मैं भी अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। लेख लिखने के पूर्व, उन महाकवियों के दर्शनों का मुझे सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया जिनके काव्य-ग्रन्थों की इस पुस्तक में आलोचना की गई है। अतएव व्यक्तिगत-प्रेम अथवा व्यक्तिगत-द्वेष का यहाँ प्रश्न ही नहीं है। एक ही कवि की एक प्रकार की कविता ने मेरे हृदय को अत्यधिक प्रभावित किया तो दूसरी प्रकार की कविता का उल्टा असर हुआ। श्रद्धेय गुप्त जी के 'पलासी के युद्ध' की मैंने प्रशंसा की है किन्तु 'साकेत' मुझे साधारण रचना प्रतीत हुई। श्री महादेवी जी के 'यामा' एवं 'दीपशिखा' सुन्दर एवं उत्कृष्ट रचनाएँ हैं किन्तु बङ्गाल के अकाल पर लिखी गई 'बङ्ग-वन्दना' में न भाव अच्छे आपाए हैं और न भाषा। पंतजी का 'पल्लव' सुन्दर है किन्तु 'गुञ्जन' मुझे नहीं जँचा। 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' 'जुही की कली' एवं 'गीतिका' के कुछ गीत बड़े सुन्दर हैं किन्तु 'तुलसीदास' ने मुझे प्रभावित नहीं किया। 'मधुशाला' बच्चन की बड़ी मस्त रचना है किन्तु वह मस्ती धीरे-धीरे कम होती गई है। उनका नवीन-नवीन छन्दों का प्रयोग अवश्य हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि कर रहा है किन्तु यह स्वाभाविक है कि प्रयोगों में लग जाने पर कविता की सरसता कम हो जाय। 'अञ्चल' एवं 'दिनकर' दोनों की मनोवृत्ति एवं हृदय एक दूसरे के विपरीत हैं। 'दिनकर' का हृदय देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है। 'हिमालय'-सरीखी देशभक्ति की कविता बड़ी ओजस्वी रचना है किन्तु उनकी शृङ्गार अथवा प्रेम-सम्बन्धी अथवा चिन्तन-प्रधान रचनाओं में भाषा का सुव्यवस्थित रूप नहीं मिल पाता और उनको पढ़ने पर आभास होता है कि दिनकर के हृदय में ऐसे भावों के लिए कम स्थान है। 'अञ्चल' के मांसल-सौन्दर्योपासना के गीत बड़े मीठे एवं हृदय स्पर्शी हैं किन्तु उनके प्रगतिवादी गीतों

में भाषा का स्वरूप बिगड़ जाता है। इस विश्लेषण से यह पता चलेगा कि कवियों की रचनाओं को कई बार पढ़ कर, उनका जैसा मेरे हृदय प्रभाव पड़ा, वैसा ही उसको व्यक्ति करने का, इन लेखों में, प्रयत्न किया है। आधुनिक 'उड़न-छू-समालोचना' की परिपाटी ग्रहण करके 'छठी विभावना' अथवा 'अङ्गाङ्गी भाव संकर' का कवि की रचना में, एक उदाहरण देकर आकाश में उड़ने कीकला में मैं दक्ष नहीं हूँ। केवल इतना लिखने से कि "कवि की अनुभूति सजग है और वहाँ उसे सजीव वाणी भी दे सका है" अथवा "इस रचना में कई मार्मिक सूक्तियाँ हैं" या "कवि की रचना कला की दृष्टि से नहीं भावना की दृष्टि से पढने की चीज है"—किसी कवि की रचना के मर्म का पता नहीं चला करता और न आलोचक के कर्त्तव्य की इतिश्री हो जाती है। इसीलिए जहाँ कहीं कोई मत मैं ने प्रकट किया है वहाँ आलोच्य ग्रन्थ से, उस मत के समर्थन में पर्याप्त उदाहरण देना भी उचित समझा है। मैंने आलोचना करते समय आलोच्य ग्रन्थ को मुख्यत: भाषा की कसौटी पर ही परखने का प्रयत्न किया है किन्तु जहाँ आवश्यक समझ पड़ा, साहित्य-शास्त्र, युद्ध-शास्त्र, रामायण, महाभारत, उप-निषद, पुराण, इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, कृषिशास्त्र एवं प्रकृतिपर्यवेक्षण इत्यादि का भी आधार लिया है। हिन्दी कविता का सूर्य उषा की लाली समाप्त कर के आगे बढ़ रहा है और सूर्य के प्रकाश बिना 'कूड़ा-करकट' दिखाई ही कैसे पड़ सकता है? हिन्दी कविता का भविष्य अवश्य उज्ज्वल है। यदि हमारे कवियों ने उन बड़े भाषा-दोषों एवं उन त्रुटियों पर ध्यान दिया जो इस पुस्तक में दिखाए गए हैं तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। निकट भविष्य में हमारी कविता की भाषा अधिक प्राञ्जल होकर हिन्दी कविता को अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक रङ्गमंच पर श्रेष्ठतर स्थान दिलाने में समर्थ हो, यही मेरा उद्देश और यही कामना है।

मूल प्रश्न और अपना दृष्टि कोण

यह निर्विवाद है कि जब कवि के हृदय में भाव उठते हैं और जब वह कविता लिखने बैठता है तब उसे यह ध्यान नहीं रहता कि वह किसी श्रोता या पाठक के लिए कविता लिख रहा है। किन्तु लिख चुकने के अनन्तर जब वह किसी को अपनी कविता सुनाता है अथवा जब कवि अपनी रचना

प्रकाशित करता है तो उसका उद्देश यह अवश्य होता है कि वे भाव यथावत ही श्रोता अथवा पाठक के हृदय में भी पहुँच जायँ। इसलिए कवि की अनुभूति को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए कविता में शुद्ध, स्पष्ट एवं सुगठित भाषा का होना आवश्यक है। जहाँ भाषा गतिशील नहीं अथवा भाषा प्रवाह सुन्दर नहीं है वहाँ श्रोता का सुनने में और पाठक का पढ़ने में मन नहीं लगेगा। दूसरों के हृदय में कवि के भाव पहुँच ही नहीं सकेंगे। जहाँ कविता की भाषा अस्पष्ट, उलझी हुई, धूमिल अथवा कुहरे से ढकी हुई होती है वहाँ दूसरे तो उस कविता का रस ले ही कैसे सकेंगे, स्वयं कवि को भी आत्माभिव्यक्ति का या 'अस्मिता' के आस्वादन का रस नहीं मिलेगा। जब कवि के कथन में रस नहीं होगा तो सहृदय पाठक या श्रोता के हृदय में रस सुप्त पड़ा रहेगा; कवि की कविता उस सुप्त रस को उद्बुद्ध नहीं कर सकेगी और कवि का संवेद्य निष्फल ही जायगा।

इसीलिए 'प्रतीकवादी' अस्पष्ट भाषा का रसास्वादन तब तक नहीं हो सकता जब तक कवि यह न बतलाने की कृपा करे कि अमुक शब्द अमुक भाव का प्रतीक है। यह सही है कि कभी-कभी साहित्य-आत्मा स्थूल जगत् से ऊब कर सूक्ष्मता के लिए लालायित हो उठती है; अपने चित्त में उठी भावनाओं तथा कल्पनाओं की खोज प्रकृति तथा अध्यात्म में करने लगती है और यह भी समझ में आता है कि गुलाब, भ्रमर, पतङ्ग और कमल प्रेम के प्रतीक हो सकते हैं किन्तु यह समझना कठिन है कि विशाल कठोर पर्वत भी कमल के साथ प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है। एक कवि ने यदि 'फूल' को प्रेम का प्रतीक मान कर कविता लिखी तो दूसरे ने 'फूल' को हृदय का प्रतीक मान लिया और 'पंखुरियाँ' भावों की प्रतीक बन गईं !! 'ऊषा की लाली' कहीं शृंगारिकता की प्रतीक मानी गई, तो कहीं भीषणता की, और कारुण्य की प्रतीक तो है ही क्योंकि रोने के कारण आँखें लाल हो जाती हैं !! यदि प्रेमी अपनी प्रेमिका को देखने को चुपचाप दबे पाँवों आया हो और एड़ी उठा कर आया हो और यदि ऐसे समय सुकुमार एड़ी लाल हो गई हो तो उस एड़ी की प्रतीक भी 'ऊषा की लाली' बन सकती है !! फिर प्रेमिका ने प्रेमी को यदि सहसा देख लिया हो तो शर्म से उसके मुख पर लाली दौड़

जायगी उसकी भी 'ऊषा की लाली' प्रतीक रहेगी !! और यदि लालिमा न, साहस कर, प्रेमी महानुभाव के ज़रा कान मसल दिए हों तो कानों की लालिमा की प्रतीक भी 'ऊषा की लाली' पूर्ववत् बनी रहेगी !! 'छायावाद' में, इस प्रकार, 'ऊषा की लाली' विभिन्न भावों का 'अजायबघर' रह सकती है और आलोचक को सहृदय बनकर, कवि के हृदय-सागर में पहुँच कर, उलझी हुई ऊर्मियों से अपने को बचाकर यह बताना चाहिए कि 'ऊषा की लाली' से किस समय में किस सम्बन्ध में कवि ने क्या अर्थ लिया है !!

यदि कवि ने लिखा कि "काँटों ने भी पहिना मोती" तो पाठक, श्रोता, और आलोचक को मिल कर यह समस्या सुलझानी चाहिए कि कवि का आशय क्या है ? 'काँटों' का क्या तात्पर्य है और 'मोती' का क्या है ? एक ने कहा कि 'काँटे' प्रतिकूल वातावरण के चिन्ह हैं और 'मोती' विजय अथवा शान्ति का प्रतीक है और कवि का आशय है कि प्रतिकूल वातावरण में भी विजय हुई अथवा चित्त में शान्ति रही। दूसरे की समझ में 'मोती' आँसुओं का प्रतीक था अतएव अर्थ यह किया गया कि प्रतिकूल वातावरण में आँसू आ गए। तीसरे व्यक्ति ने बताया कि 'काँटो' का आशय कुटिल, क्रूर अथवा कठोर हृदय से है और कवि का आशय यह है कि ऐसे हृदय वाले व्यक्ति के भी भावावेश के कारण आँसू आ गए अथवा क्रूर-हृदय भी शोभायमान हुए। चौथे व्यक्ति की सम्मति यह थी कि 'काँटों के ऊपर मोती' गुलाब का सूचक है जो कठिनाई के अनन्तर प्रेम की सफलता का प्रतीक है। मेरे सरीखे शुष्क हृदय में यह पंक्ति पढ़ते ही श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक रचना पर ध्यान गया जहाँ बबूल वृक्ष से आती हुई भीनी-भीनी महक का उल्लेख है। मैंने कहा हो न हो कवि का ध्यान भी इधर गया होगा और दूर से बबूल के फूल मोती सरीखे चमकते ही हैं अतएव कवि का तात्पर्य 'बबूल' वृक्ष से है जो प्रगतिवाद का प्रतीक है !! इस प्रकार एक छोटी सी पंक्ति के विषय में पाँच सम्मतियाँ रहीं और फिर भी स्यात कवि का आशय छाया से आच्छादित ही रहा !!

सच बात यह है कि छायावादी कवियों और छायावादी सहृदयों की एक गोल मेज परिषद् की आवश्यकता थी जो यह बात निश्चय कर देती कि

भविष्य में किस भाव का कौन प्रतीक माना जावेगा। किन्तु छायावादी कवि किसी बन्धन में बँधने को उद्यत नहीं थे और यदि यही बात निश्चित करदी जाती तो छाया बचती कहाँ ? अँग्रेजी साहित्य के टी० एस० इलियट और ब्लेक सरीखे कवियों की भाँति छायावादी कवियों की भाषा एक अत्यन्त संकुचित क्षेत्र के अनुभव लिए हुए कवि की अस्पष्ट व्यक्तिगत भाषा होने के कारण केवल थोड़े से विशिष्ट जनों को ही उस उलझन का रसास्वादन करा सकती है।

अच्छे अच्छे शिक्षित कविता-प्रेमी सहृदय तो समझ ही नहीं सकते। अस्पष्ट भाषा कभी भी किसी साहित्य में इसीलिए श्रेयस्कर नहीं मानी जाती। जिस कविता को पढ़ कर पाठक की कोई सुप्त स्मृति सहसा जग नहीं जाती अथवा पाठक उस कविता को पढ़कर आह्लादित नहीं होता या तन्मय नहीं हो जाता तब तक वह कविता सार्थक कैसे मानी जा सकती है ? तुलसी या बिहारी की भाषा को समझने की कठिनाई भिन्न प्रकार की है। वहाँ न तो प्रतीक हैं और न भाषा ही अस्पष्ट है। व्यञ्जना के सहारे वहाँ थोड़े से शब्दों में बड़े गंभीर भाव का प्रदर्शन है। एक छोटे से शब्द में महत्वपूर्ण भाव भरा हुआ है। उस शब्द की शक्ति यदाकदा अणुशक्ति से कम प्रतीत नहीं होती। भाव समझने में वहाँ अवश्य मनन की आवश्यकता होती है किन्तु प्रतीकों के अन्दाज लगाने में मस्तिष्क को कलाबाजी की या व्यायामशाला के नवीन प्रयोगों में समय नष्ट करने की योजना बनाने की वहाँ आवश्यकता नहीं होती। यह शुभ लक्षण अवश्य है कि अब हमारे कवियों में लक्षणा की मनमानी वक्रता का मोह प्रायः हट चुका है और स्वाभाविक व्यंजना का सहारा लिया जा रहा है। छायावाद पिछले आठ-दस सालों में समाप्त हो चला है अतएव प्रथम भाग मे लिखे गए हमारे लेखों का उतना महत्व नहीं रहा जितना पहले था। फिर भी यह देखकर कि हमारे साहित्य के इतिहास में उसका स्थान बन चुका है और न जाने किस दिन ब्लेक और इलियट का मोह फिर आ उभरे, हमने अपने लेखों में काट-छाँट करना उचित नहीं समझा।

अस्पष्ट भाषा के बाद, बड़े बड़े भाषा-दोष भी कविता को नीरस बना देते हैं। छोटे-मोटे भाषा-दोष और भाषा की तोड़-मरोड़ कुछ सीमा तक तो उपेक्षा योग्य होती ही है किन्तु बड़े भाषा-दोष पाठक के हृदय में कविता के

प्रति घृणा के भाव भी पैदा कर देते हैं। ऐसे दोष सुप्त रस को उद्‌बुद्ध करने के स्थान में, सहृदय के हृदय में, कवि के प्रति, उदासीनता के भाव को जगाते हैं जिसके कारण पाठक या श्रोता कविता का न रसास्वादन कर सकता है, न आह्लादित होता है और न उसकी कोई सुप्त स्मृति ही जग सकती है।

केवल अपना आशय अधिक स्पष्ट करने को हम कविवर आरसीप्रसादसिंह के काव्य संग्रह की यहाँ संक्षिप्त चर्चा करना उचित समझते हैं। उनका ५३७ गीतों का संग्रह 'संचयिता' नाम से प्रकाशित हुआ है। कौतूहल बस उठाकर एक दिन देखा तो पृष्ठ १२४ पर 'ग्रीष्म-गरिमा' पर दृष्टि पड़ी जहाँ लिखा हुआ था—

कभी कभी आँधी भी आकर सब का दिल दहला देती
आमों के सुन्दर पेड़ों को बस झकझोड़ हिला देती!
पहले तो मृदु मंजर ही थे, किन्तु हुए अब बड़े बड़े
खा मारुत के प्रबल झकोड़े,गिर पड़ते फल हरे-हरे!

पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि आँधी और कुछ उत्पात नहीं करती केवल सुन्दर आम्र वृक्ष के पास पहुँच कर, बन्दरों की तरह, पेड़ों को झकझोर कर हिला देती है! शब्द बस महत्वपूर्ण है। 'मञ्जरी' शब्द शुद्ध है स्त्रीलिंग है किन्तु उसको पुल्लिग बदल कर मञ्जर कर दिया। अर्थ हुआ कि पहिले तो कोमल 'मञ्जरी' थे किन्तु अब बड़े-बड़े मञ्जर हो गए जो मारुत के झकोड़े खाकर हरे हरे फल बनकर गिर पड़ते हैं। यानी जब तक मारुत के झकोड़े न लगें तब तक बड़े-बड़े मञ्जर रहते हैं। लगते ही फल बन कर गिर पड़ते हैं!!

इस पद्य में भाषा का यह हाल देखकर आगे बढ़ने का विचार किया तो पृष्ठ पर अग्नि-उमङ्ग पर दृष्टि गई जहाँ पर यह छन्द था:—

उड़ें धजियाँ इन प्राणों की
आहुतियाँ हो अरमानों की
पर न डिगूँ अब पथ से अपने
मौत मरूँ मैं मरदानों की

'मर्दों' की मौत से मतलब होगा किन्तु 'मरदानी रानी' का हाल पढ़ कर के कविता लिखी होगी तो 'मरदानों' की मौत मरने का विचार आया होगा !! समझा कविवर शायद उर्दू भाषा के व्याकरण से अनभिज्ञ थे इसलिए 'मर्दों' के स्थान में 'मर्दानों' लिख गए होंगे। आगे पृष्ठ १६६ पर सह्य-कवि' पर दृष्टि गई तो यह छन्द मिला:—

तब तक तुम निर्भय हो अपनी मूँछों पर दो ताव;
यश न प्रताप सुनेगा अरि का खाय भले ही घाव !

तो समझा कि शायद बिहार में 'घाव खाया जाता होगा' !! और आगे देखा तो पृष्ठ १६६ पर प्रलय-नट पढ़ने की इच्छा हुई। वहाँ लिखा हुआ था—

पावक बने महावर-जावक
मलय पवन हो जाय बबंडर

जावक और महावर में क्या भेद है ? समझ में नहीं आया। विस्मय, शोक अथवा आवेग भी यहाँ नहीं था जहाँ पुनरुक्ति समीचीन मालूम पड़े; न भाषा में ही जोर आ पाया !! अतएव और आगे बढ़े तो पृष्ट २१३ पर 'जीवन' शीर्षक गीत पाया। उसका सारांश इस भाँति था:—

रोगी बन सुकुमार सेज पर तू कायर की मौत न मर
पानी से भी जो बदतर हो पैदा ऐसी आग न कर !

शायद 'आग' 'पानी' का कवि ने समान गुण माना है इसलिए दोनों का मुकाबिला कर दिया। जलाने की शक्ति पानी में भी होती होगी !! अथवा आग से भी कभी कभी बदतर पानी होता होगा !!

और आगे बढ़ने की सोची तो 'नग्न दर्शन' की कविता पृष्ट २६४ पर थी। कोई अच्छा विषय तो नहीं प्रतीत हुआ किन्तु विषय से काव्य का मूल्याङ्कन करना उचित नहीं होता। कभी 'मकड़ी' 'कंकड़' 'बिच्छू' पर बड़ी अच्छी कविता मिल जाती है तो 'आत्मा की अविनश्वरता' पर बड़ी भद्दी कविता। वास्तव में, कवि के कविता लिखने के ढंग से ही उसका मूल्याङ्कन सही हुआ करता है। इसलिए 'नग्नदर्शन' ही पढ़ने लगा—

सामने क्षितिज, वन एक ओर;
नीचे भू, ऊपर नभ अछोर!
कर दे विमुक्त कुन्तल—कलाप
मैं आज करूँगा चीर-चोर।

'चीर-चोर' करना एक ही बात रही। 'बनूँगा चीर-चोर' भी कुछ ठहरता। समझ में आया कवि की कविता नहीं तुकबन्दी चल रही है; न भाव है। न भाषा! 'चोर' और 'चोरी में भी भेद नहीं किया!! इसी प्रकार 'शंखनाद' में लिखा—

फूँक विजय-शङ्ख घोर
दौड़ वायु सा, विशाल!
लाँघ उदधि, झील, ताल
गगन - वक्ष चीर - चीर
अरे मदोन्मत्त वीर!

'शंखनाद' में शायद ऊँघाधुंध छलांगें भरी जाती हैं। उदधि लांघने के अनन्तर झील और ताल को लांघना तुकपूर्ति नहीं तो क्या है? यदि तीनों को लांघना अभीष्ट था तो पहिले ताल लांघते, फिर झील और उसके अनन्तर उदधि लांघने में किसी क्रम का तो पता रहता!!

यह देख कर कि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार नहीं है कुछ उदासीनता हुई और पुस्तक रख देने की तबियत हुई किन्तु फिर उठाकर 'वर्षा-वियोगिनी' पढ़ने लगा। कवि के दोनों संग्रहों में यह कविता सम्मिलित की गई है। चतुर्थ कवित्त के तीसरे चरण में 'पराग पूत' के वर्णन की सराहना किस प्रकार की जा सकती है? कविवर के अत्यधिक संस्कृत भाषा के प्रेम ने उनको यह छोटी-सी बात भी भुला दी है कि हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है वह संस्कृत भाषा की अनुगामिनी किसी प्रकार भी नहीं है। हिन्दी भाषा में संस्कृत और उर्दू के कुछ शब्द अश्लील माने जाते हैं और उन शब्दों को हिन्दी कविता में लाकर कविता को नष्ट-भ्रष्ट कर देना नहीं तो क्या है? निदान 'संचयिता' उठा कर एक स्थान पर रख दी गई और फिर कभी पढ़ने को इच्छा ही नहीं हुई। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि उसमें सुन्दर रचनाएँ नहीं होंगी।

इसके अनन्तर पं० उदयशङ्कर भट्ट का "अमृत और विष" पढ़ने को उठाया तो 'बन्द करो द्वार' कविता में भाव कुछ अच्छे मालूम पड़े निदान में उसे पढ़ने लगा। एक स्थान पर था—

सुनो सुनो खोलदो खिड़कियाँ औ'
दरवाज़े, स्फाईलाइट, वेन्टिलेशन
भर जाने दो प्रकाश
सूरज है उग रहा मत डरो,
× × ×
मूढ़ माईथोलोजी, व्यर्थ आइडियोलोजी
रहने न पावे सड़ा देने को विचार नर—

अँग्रेजी के ये बड़े-बड़े शब्द गोआ से आए हुए बाबर्ची भी नहीं समझ सकते! कवि ने 'शटर्स' खोलने के स्थान में सारा 'वेन्टिलेशन' ही खोल डाला है!! इससे तो यदि अँग्रेजी में ही कविता लिखी जाती तो अच्छी रहती!

दूसरी कविता पढ़ने का प्रयत्न किया तो उसका शीर्षक था 'रिफ्यूजी'। युद्ध-काल में भागे हुए शरणार्थियों से आशय था किन्तु शीर्षक 'शरणार्थी' न होकर अँग्रेजी का शब्द रखना उचित समझा गया था।

एक स्थान पर था—

इसी बीच मानव समूह छोड़ देश निज,
छोड़ छोड़ वैभव अनन्त—
सुविमूढ़ पथ!
कुछ था न ज्ञान उन्हें,
कुछ था न भान उन्हें,
हीन-मद, श्लथ-गर्व
हीन-रथ, लथपथ,
भागते-से जा रहे थे,
रेंगते-से जा रहे थे—
हार लिए जीवन की, भार लिए वहनीय।

बालक थे, वृद्ध थे, जवान, बूढ़ी, रमणी भी,
लूले और लँगड़े थे, अन्धे औ कुबड़े थे,
मानो शत-शत चांद भू पर उतर कर,
कीचड़ से लथपथ,
भालुओं के साथ-साथ चलते अनिर्बाध ।

छठी पंक्ति का 'लथपथ' अकेला फँसा हुआ प्रतीत होता है !! किस से लथपथ थे ? पसीने से या कीचड़ से ? नीचे आकर तो 'शत-शत चाँद' कीचड़ से लथपथ बताए गए हैं किन्तु कवि का ऊपर क्या आशय है पता नहीं चलता। शरणार्थी 'भागते भी जा रहे थे' 'रेंगते-से भी जा रहे थे' । 'भागना' और 'रेंगना' एक दूसरे के प्रतिकूल क्रिया के सूचक हैं। संभव है कोई रेंग रहा हो कोई भाग रहा हो ; अथवा सारा 'मानव-समूह' कभी भागता होगा कभी रेंगता होगा। कवि का भाव क्या है कविवर ही जानें ! भालू किस को बताया ? लूले-लँगड़ों को ? अंधे और कुबड़ों को ? अथवा बोझा ढोने वालों को !! शत शत चाँद' तो 'रमणी' के अतिरिक्त और कोई हो नहीं सकता और 'अनिर्बाध' (बाधा रहित) शब्द में 'निश्चिन्त' (बेफिकर) होने का भाव है। भागने वाले शरणार्थी और उनकी स्त्रियाँ अथवा बहू-बेटियाँ किस प्रकार चिन्ताहीन रहे होंगे ? जब ऊपर 'भागने' और 'रेंगने' का उल्लेख हो गया था तो अनिर्बाध गति का उल्लेख करना व्यर्थ था। एक भाव दूसरे के प्रतिकूल है। अन्तिम तीन पंक्तियों ने तो 'कारुण्य' को बदल कर हृदय में शृङ्गारिक सौन्दर्योपासना का भाव जगा कर 'भालुओं' के साथ चाँद बता कर कविता ही हास्यास्पद बनादी है !! 'शत-शत चाँद' की उत्प्रेक्षा समयानुकूल तो नहीं कही जा सकती है। 'नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात !'

यह समझ कर कि कवि ने कविता जल्दी में लिखी है कुछ और आगे पढ़ने का विचार किया तो निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं :—

भागे जा रहे थे सब !

× × ×

जलहीन, वस्त्रहीन,
अन्नहीन, छायाहीन,

मुक्त नभ, मुक्त काल,
मुक्त भूमि, त्यक्त दैव,
साईकिल, पैदल औ बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी,
मोटर पै रख कर बालक औ साज सारा।

संस्कृत-प्रचुर भाषा गिरते-गिरते यहाँ एकदम साईकिल और बैलगाड़ी पर आ कूदी है !! सहसा भाषा-प्रवाह यहाँ बिगड़ जाता है ! पहले छन्द में रथहीन बता आए थे किन्तु यहाँ बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी और मोटर सभी वाहन उपस्थित हैं ! कवि को यह याद नहीं रहा कि पहिले क्या कह चुके हैं उसके प्रतिकूल कहना चाहिये या नहीं ? 'बालक' भी शायद एक निर्जीव बोझा सा था जो सारे सामान के साथ 'मोटर पै' लाद दिया गया। माता और पिता के स्नेह से वंचित रहा होगा नहीं तो किसी की गोद में होता अथवा किसी के साथ मोटर में बैठा रहता। सामान के साथ बेचारा मोटर पै तो न रखा जाता !!

अनावश्यक विषयों का वर्णन कभी-कभी कविता को नीरस बना देता है इसीलिए कवि को अनावश्यक वर्णन से अपनी कविता को बचाना चाहिए। अनावश्यक एवं अवांछनीय वर्णन के अभाव से भी कविता का मूल्याङ्कन हुआ करता है। इस कविता में गर्भिणी पुत्र-बधू के साथ उसका श्वसुर भागा जा रहा बताया गया है और अन्त में गर्भिणी के बच्चा हो जाता है। कवि इस दृश्य को बता कर पाठक के हृदय में शोक का भाव जगा कर करुणा-रस संचार करना चाहता है किन्तु अनावश्यक वर्णनों से कविता नीरस हो गई है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

अन्धकार ऊपर था, अन्धकार नीचे भी था,
अन्धकार बीच में भी।
कजल के जग उस। तिमिर के भव उस,
उठी नभ तारिका, गगन घन काकिनी-सी,
मानस अथाह वेदना में समय रेख सी—
या कि मुक्त पल्लव प्रभुक्त
सब गौरव के तरु में अकेले एक, निकला हो फल एक—
दोनों ही थे मौन जन,

सब ओर नीरवता, एक ध्वनि आ रही थी,
सद्योजात बालक की, ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ ।

यह तो सद्योजात अमित्राक्षर मुक्तक छन्द ही की 'ट्याँ, ट्याँ' प्रतीत होती है । इतनी लम्बी कविता में कहीं भी ऐसी शोचनीय अवस्था तो प्रतीत नहीं हुई जहाँ पाठक का हृदय द्रवित भी हो पाया हो । या गर्भिणी की, अथवा उसके श्वसुर की, व्याकुलता से पाठक को सहानुभूति ही हो पाई हो । कविता का अन्तिम छन्द एवं उसकी अन्तिम पंक्ति तो सारगर्भित एवं सुगठित भाषा में 'प्रधान वाक्य' के रूप में होनी चाहिए थी ; किन्तु यहाँ सद्योजात संस्कृत-गर्भित भाषा शाब्दिक अपव्ययता का अभिशाप लिए हुए, नभ तारिका की भाँति, आकाश से टूट कर, एकाएक बड़े खाई-खन्दक में गिरते हुए "ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ" करती नज़र आ रही है !!

मेरा आशय यह कदापि नहीं है कि पण्डित उदयशङ्कर भट्ट अथवा श्री आरसीप्रसादसिंह कवि-हृदय नहीं हैं अथवा उनकी अन्य रचनाएँ अच्छी नहीं हैं । ऊपर थोड़े से उदाहरण केवल यह दिखाने को दिए गए हैं कि जहाँ भाषा-प्रवाह बिगड़ जाता है, अथवा कवि की असावधानी से, बड़े-बड़े शब्द अथवा अर्थ-दोष कविता में आजाते हैं वहाँ पाठक का जी कविताएँ पढ़ने में भी नहीं लगता ; कवि के कथन में रस की समाप्ति प्रतीत होती है ; रस की प्रतीति रुक जाती है अथवा रसास्वादन में विघ्न अथवा विलम्ब होने के कारण कवि का संवेद्य निष्फल हो जाता है । अतः जिस उद्देश से कविता प्रकाशित की जाती है वह उद्देश सफल नहीं होता और कवि की कविता पाठक अथवा सहृदय के हृदय में पहुँच ही नहीं सकती । वास्तव में, साहित्यिक प्रासाद के ऊपर पहुँचने के लिए भाषा प्रथम सोपान है । जो पहिली सीढ़ी नहीं चढ़ सकता वह छत पर पहुँच कैसे सकता है ?

जहाँ भाषा की प्राथमिक परीक्षा में कवि असफल हो जाते हैं वहाँ गुण और अलङ्कार के विवेचन से लाभ क्या होगा ? वहाँ रस और ध्वनि की ऊँची कसौटी पर कविता को परखा ही कैसे जा सकता है ? वहाँ रहस्यवाद, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद और मनोविश्लेषणवाद के प्रश्नों को उठाना किस प्रकार समीचीन हो सकता है ? जिस प्रकार कुष्ट का एक छोटा धब्बा सुन्दर, सुडौल

शरीर को दूषित कर देता है उसी प्रकार एक भाषा-दोष सुन्दर रचना को भी दूषित कर सकता है।

अतएव सारे वाद-विवादों को छोड़ कर, केवल भाषा की कसौटी पर अपने लेखों में, मैंने खड़ीबोली के लोक-प्रिय काव्य-ग्रन्थों को परखने का प्रयत्न किया है। किसी काव्य ग्रन्थ के पढ़ते ही, मेरे हृदय में निम्नलिखित प्रश्न उठा करते थे :—

(१) क्या कवि अपने भावों को ठीक-ठीक व्यक्त कर पाया है? क्या भाषा ऐसी है कि अपने हृदय में उठे भावों और उद्वेगों को कवि पाठक के हृदय में पहुँचाने में समर्थ हो सका?

(२) क्या बड़े-बड़े दोषों से कविता नीरस तो नहीं हो गई?

(३) क्या भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है और भाषा-प्रवाह सुन्दर रहा है और क्या कवि ने प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग किया है?

(४) क्या देश, काल, लोक-विरुद्ध बातें लाकर अथवा अन्य अनौचित्य लाकर कविता बिगाड़ तो नहीं दी गई?

(५) क्या एक ही कविता में कई बातें ऐसी तो नहीं हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध हों?

(६) यदि इतिवृत्तात्मक वर्णन है तो क्या आवश्यक विषयों का परित्याग करके अनावश्यक विषयों की भरमार करके कविता बिगाड़ तो नहीं दी गई?

मेरी इस पुस्तक में, समालोच्य ग्रन्थों के विषय में, अधिकतर इन्हीं प्रश्नों का उत्तर मिलेगा। इस विषय पर इस भूमिका में और अधिक लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। हाँ, केवल दो-तीन बातें और बताना आवश्यक समझता हूँ।

कवि, बुद्धि-क्षेत्र से बहुत दूर, भावना के क्षेत्र में विचरण करता है। उसे बुद्धि से सहायता लेकर किसी परिणाम पर पहुँचने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि वह बुद्धि से सहायता लेता है तो उसे तार्किक परिणाम पर ही पहुँचना आवश्यक है। किसी रूप में भी वह सर्वमान्य तर्क-सिद्धान्तों की स्पष्ट अवहेलना नहीं कर सकता।

दूसरी बात यह है कि यह पर्याप्त नहीं कि भाषा शुद्ध है प्रत्युत् वह विषय

और प्रसंग के अनुकूल भी होनी चाहिए। छायावाद के लिए जो भाषा उपयुक्त होगी वही यथार्थ-चित्रण में, अथवा, प्रगतिवाद में नीरसता भी उत्पन्न कर सकती है। द्वितीय भाग का अन्तिम लेख, 'बंग-दर्शन' की समालोचना, इस दृष्टि से मनन-योग्य है। छायावाद की भाषा होने के कारण बङ्गाल के अकाल का वहाँ किसी कविता में उपयुक्त चित्रण नहीं हो सका।

फिर, एक विद्वान पंडित के मुख से जो भाषा अपेक्षित है वही भाषा एक मुसलमान सज्जन से कहलवाना अनुचित होगी। इसी प्रकार राजघराने के एक व्यक्ति की, एक महाकवि की, एक शूरवीर की, एक तपोनिष्ठ महात्मा की और एक गाँव के किसान की भाषा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए। प्रेमी की भाषा और एक संतप्त हृदय की भाषा में भी पर्याप्त भेद होगा। जो विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार भाषा का भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखा सकता है, वास्तव में वही महान् कवि है।

यह बात भी, स्पष्ट करना मैं उचित समझता हूँ कि शब्द-दोष, व्याकरण-दोष, भाषा-दोष, इत्यादि देखने का मैंने तभी प्रयत्न किया है, जब कवि ने भाषा का साधारण प्रयोग किया है अर्थात् जब कवि ने शब्दों को सामान्य 'वाचक' रूप में ही प्रयुक्त किया है। जहाँ कल्पना की सहायता से, शब्दों को विशेष 'चित्र रूप' में प्रयोग करके, रूपक अथवा मानवीकरण के सहारे, पाठकों के हृदय में भावनाओं के चित्र जगाने का प्रयत्न है वहाँ मैंने केवल इस बात पर ध्यान दिया है कि कहीं ये चित्र धूमिल अथवा क्षीण तो नहीं हो गए अथवा असंगत एवं अस्वाभाविक होने के कारण कवि का उद्देश निष्फल तो नहीं हुआ।

\+ \+ \+ \+ \+

सौभाग्य से, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का प्रश्न आज नहीं रहा है। भाषा में एकरूपता का प्रश्न अवश्य है। 'साहित्य-समीक्षा' शीर्षक निबन्ध में मैंने हिन्दी के 'विराट् रूप' देखने की इच्छा की थी। वे ही शब्द यहाँ फिर उद्धृत करना समय व्यर्थ नष्ट करना होगा।

प्रत्येक कवि की अपनी शैली होती है। कोई संस्कृत-गर्भित भाषा को अपनाता है तो कोई सरल भाषा को। मैंने तो केवल यह देखने का प्रयत्न

किया है कि कवि ने अपनी रुचि के अनुसार जो शैली अपनाई उससे कविता में स्वाभाविकता रही या नहीं और भाषा में कृत्रिमता तो नहीं आगई, भाषा-प्रवाह ठीक रहा या नहीं ? और भाषा और भाव का सामंजस्य भी ठीक रहा या नहीं ? न तो मैं हिन्दी को संस्कृत के ढाँचे में ढालना चाहता हूँ और न संस्कृत भाषा को तोड़ मरोड़ कर हिन्दी बना डालने के पक्ष में ही हूँ। संस्कृत के कुछ शब्द यदि हिन्दी में किसी दूसरे अर्थ में व्यवहृत होते हैं तो हम उन्हें उसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। 'खटराग' 'झंझट' के अर्थ में ही रहेगा चाहे उसका शुद्ध रूप 'षटराग' रहा हो। 'मेहतर' या 'महत्तर' भङ्गी के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए; 'महत्तर' (दो में बड़ा) के अर्थ में नहीं। 'पतित'[१] का अर्थ 'पातकी' अथवा 'नीच' ही रहना चाहिए और कोई कहे कि "हाथ से छूट कर पुस्तक भूमि पर 'पतित' हुई" तो शब्द 'पतित' अशुद्ध माना जायगा। 'दग्ध-हृदया'[२] को 'दग्धा' बना डालने के भी पक्ष में मैं नहीं हूँ। मार्जनी बुहारी या झाड़ू को कहते हैं, 'मार्जना' ढोल के शब्द को; 'प्रिय-प्रवास' का शब्द 'मार्जनीया'[३] एक विकट समस्या ही है। 'कर्णाधार', 'अन्धा-कार' इत्यादि भी अशुद्ध हैं। संस्कृत और फारसी शब्दों को पास-पास बिठाकर नई भाषा गढ़ने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। संस्कृत-प्रचुर भाषा में 'मींचे' 'मूँदें', 'होले', 'भोर' 'चहेती' 'पुरवैया' इत्यादि लाने से भी भाषा बिगड़ती है। खड़ी बोली के शब्द 'सौंद सौंद कर फींचना'[४] 'खुल्लमखुल्ला'[५]—कविता में नहीं आने चाहिए। ये कविता के शब्द नहीं हैं। ग्रामीण भाषा के सरस शब्द भले ही लाकर खड़ी बोली के सांचे में ढाले जायँ; किन्तु नीरस शब्द—'कींच-कांद',[६] 'घिनौना'[७] 'ओखा',[८] 'कलेऊ'[९] 'झूमका'[१०] 'हिन्नी पैना'[११] 'पिच्छल'[१२] 'चुधियाजाना'[१३] 'ऊँझना'[१४] 'ओदा'[१५]—इत्यादि से खड़ी बोली की सरसता एवं प्रामाणिकता नष्ट होने का भय है। ग्राम वासियों के अस्वा-

---

(१) पृष्ठ ३११–१२, (२) पृ० ३२२, (३) पृ० ३१७–३१८, (४) पृ० २१५, (५) पृ० १०८, (६–७) पृ० १६६, (८) पृ० १७२, (९) पृ० १७३, (१०–११) पृ० १६७, (१२) पृ० १६८, (१३) पृ० १७०, (१४) १७१, (१५) पृ० १५५।

भाविक एवं अनावश्यक वर्णनों से और गाँव की भाषा के भद्दे शब्दों से साहित्य को लाद देना उचित नहीं है।

कवि की भाषा चाहे तत्सम-प्रधान शब्दों की हो, चाहे तद्भव प्रधान शब्दों की; कविता में भाषा की एकरूपता अवश्य रहनी चाहिए। कम-से-कम संस्कृत-फारसी-ब्रजभाषा-और ग्रामीण भाषा को मिलाकर खिचड़ी पकाना मैं राष्ट्र भाषा हिन्दी के हित में नहीं समझता। माना कि कोई कवि इस खिचड़ी भाषा में भी ऊँचे भाव ला सकता है। (देखिये पृष्ठ १३७-१३८); किन्तु उसमें हमारी भाषा के बिगड़ जाने का डर ही है। इस सम्बन्ध में एक ग्रामीण विषय पर लिखी गईं निम्नलिखित पंक्तियों पर एक दृष्टि डालनी अनुचित न होगीः—

प्रलयङ्कारी रणचण्डी सी, नेत्र-युगम निज मीचे,
चली भैंसिया महद्वेग से रस्सी खूँटा खींचे!
सद्योजातः पिल्ला कूका "खौफनाक यह सौदा!
गोबर आज लिखेगा सिर पर जीवन-मृत्यु मसौदा!!"

ऊपर की पंक्तियों में तुक मिल गई है, भाषा-प्रवाह भी है, अलङ्कार भी आगए हैं; व्यंजना-शक्ति भी है, परन्तु भाषा के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया है। क्या हमारे कविगण इस समस्या को सुलझाकर भाषा की रक्षा करने को उद्यत होंगे?

अनौचित्य

उचित का भाव ही 'औचित्य' हैं। काव्य में सबसे बड़ा गुण एक ही हो सकता है और वह है औचित्य। और सब से बड़ा दोष अनौचित्य है जिसके भीतर समस्त दोषों का अन्तर्भाव दिखाया जा सकता है। एक व्यक्ति को इस प्रकार बतलाना कि उसके सिर पर कोट रखा हुआ था, हाथों में जूता लिए हुए था; पैरों में टोपी पहिने हुए था, अनौचित्य का उत्कृष्ट उदाहरण होगा। प्रेम-परिणय के समय युद्ध, अथवा, युद्ध में शृंगार, वर्णन करना अनुचित है। इसी प्रकार जब कवि दीपक[1] और परवानों का प्रेम वर्णन करते करते छिपकली[1] की परवानों पर झपट दिखलाता है तो पाठकों को यह अनु-

चित बात खटकती है। देश-विरोधी, काल-विरोधी एवं लोक-विरोधी बातें तथा अनुचित वर्णन—सभी अनौचित्य दोष के अन्तर्गत आते हैं। हमने लगभग सभी लेखों में इस बात पर ध्यान आकर्षित किया है कि कवियों ने अनौचित्य को बचाने की चेष्टा नहीं की प्रत्युत भावावेश में आकर, अथवा अन्य किसी कारण से कविताओं में अनौचित्य की भरमार करने से कविताएँ नीरस हो गई हैं। लक्ष्मण[२] को राम बना कर सीता को वर लेने का वर्णन करना, एक मुस्लिम महिला के व्याह के अवसर पर प्रकृति[३] द्वारा वेद मन्त्र का उच्चारण और भाँवरियों का आभास बताना; सूर्य-चन्द्र का[४] अपने अपने बँगलों में जाकर सोने का वर्णन; अरावली पहाड़[५] पर जौ, मटर, सरसों, तीसी, चने, केसर के फूल, कमल, गुलाब, आदि का दृश्य दिखाना पढ़ने वालों को खटकता है। आदर्श क्षत्रिय नरेश[६] का सैनिकों को उपदेश देना कि तलवारों से शत्रु-सैनिकों की आँखें फोड़ डालो क्षात्र-धर्म से अनभिज्ञता का सूचक है। श्रावण-मास की भारी बरसात में भीषण युद्ध[७] वर्णन करना, महल के भीतर[८] चेरियों को कवच पहिने दिखाना, राष्ट्र-ध्वज के गिर पड़ते[९] ही सिर में बाँध लेना, और फिर उसी को कफन[१०] बना देना कवि के युद्ध-शास्त्र एवं राष्ट्र-ध्वज सम्बन्धी अज्ञान की सूचना देता है।

शेर का नीचे मुख कर चिंघाड़ना,[११] पपीहे का साधारण चिड़ियों की तरह चहचहाना[१२] सारस का डकारना[१३], चींचीं करती चिड़ियों का अंग्रेजी में "टी, वी, टी टुट टुट" बोलना[१४] और टिटहरी का ट्रिल टिरिल ट्रिल करना[१५] कवियों की असावधानी और कहीं कहीं अंग्रेजी का प्रेम बताता है। हरसिंगार[१६] का झरझर झरजाना, घास का धधक धधक[१७] कर जलना, तोपों का[१८] घहर घहर घर आवाज करना और बादलों[१९] का घनन-घनन गरजना कवियों के निरीक्षण की, अथवा, नाद-शक्ति के समझने में, कमी की सूचना देते हैं।

---

(१) पृ० १६-२०, (२) पृ० १७८, (३) पृ० २१७, (४) १८५, (५) पृ० १८४, (६) पृ० १८८, (७) पृ० १८२, (८) पृ० ३६६, (९) पृ० ३७६, (१०) पृ० ३७६। (११) पृष्ट १८६, (१२) पृष्ट १४३, (१३) पृष्ट १६७, (१४) ४२५ (१५) पृष्ट १६८, (१६) पृष्ट १२, (१७) पृष्ट १५५, (१८) पृष्ट ४५३, (१९) पृष्ट ४५३।

कल्पना में भी कवियों ने बहुधा अनौचित्य की भरमार दिखाई है। राजा की उपमा हाथी से देना उचित है क्योंकि हाथी में सूक्ष्म बुद्धि एवं महानता है। किन्तु रानी की उपमा हथिनी[1] से देना उसकी स्थूलता (मोटाई) का ही परिचय देना है जो हास्यास्पद है। यौवन के वसन्त-स्मृति की उपमा[2] गेंड़े की काली बोझिल ढपील ढाल से देना अनुचित प्रतीत होता है। सूर्य[3] गरम होने से किसी तरल पदार्थ को सुखा सकेगा किन्तु यह कहना कि सूर्य ने अपने ज्वालामय रक्त से एक वस्तु को भिंगो दिया ठीक नहीं रहेगा। गज़नी के महल[4] में सिंह पौर बताना, मुल्लाओं[5] से यह कहलाना कि ऐसा पुत्र मिले तभी स्वर्ग में पानी मिलेगा, गांधार में[6] एक मुस्लिम बच्चे के माथे पर काजल का टीका लगवा देना, हिन्दू नारियों की तरह[7] गजनी की बेगमों को 'नूपुर' और 'किंकिणी' पहना देना; मुसलमान[8] बादशाह का मुसलमान शाह से 'गुरुदेव', 'कृतकृत्य', 'आज्ञा शिरोधार्य' कहना 'कर्मरज्जु में बँधे रहने' का जिकर करना—ये सारी बातें अनौचित्य की पराकाष्ठा हैं। ये थोड़े से उदाहरण हैं जिनका भूमिका में उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं और यह आशा करते हैं कि कविगण अनौचित्य को बचाकर हिन्दी-कविता की सौन्दर्य-वृद्धि में प्रवृत्त होंगे।

भाषा-प्रवाह

भाषा-प्रवाह कविता के लिए आवश्यक है। सुन्दर भाषा-प्रवाह के बिना कविता पढ़ने या सुनने में आनन्द नहीं आता। सरिता के सदृश्य कविता का प्रवाह पहिले स्वल्प, फिर विपुल एवं विस्तृत होना चाहिए। अबाध गति से चलते रहना भी अपेक्षित है। प्रारम्भ में विपुल प्रवाह होता है और फिर अल्प हो जाता है वहाँ सरिता एक गड्ढे में अथवा ताल में ही सीमित हो जाती है, उसका सरितापन नष्ट हो जाता है। कविता में सुन्दर प्रवाह के लिए समशक्ति शब्दों के एक तार की आवश्यकता है। प्रसंग के अनुसार ये शब्द कोमल अथवा कर्कश हुआ करते हैं। कोमलकान्त पदावली के कारण 'प्रिय-प्रवास' की

---

(१) पृष्ठ २९८, (२) पृष्ठ ३९०, (३) पृष्ठ ३९०-१, (४) पृष्ठ ३६७, (५) ३६७, (६) २१६ (७) पृष्ठ ३६७ (८) पृष्ठ ३६६।

सरसता बढ़ती चली गई है। कर्कश शब्दों द्वारा ओजस्वी रचनाओं में भाषा-प्रवाह आता है। श्री रामदयाल पांडेय का 'गण-देवता', श्री सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', श्री भगवतीचरण वर्मा का 'मधुकण' श्री मोहनलाल महतो वियोगी का 'आर्यावर्त्त' सशक्त, सजीव एवं ओजस्वी रचनाएँ हैं। सरल भाषा के ग्रन्थों में, श्रद्धेय गुप्तजी के 'पलासी के युद्ध' में, ठाकुर गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' में और श्री श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी' में भाषा-प्रवाह बड़ा अच्छा रहा है। जिसके कतिपय उदाहरण इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर मिलेंगे। प्रवाह बिगड़ जाने पर कविता में नीरसता आने के भी उदाहरण यत्र-तत्र दिए गए हैं। कोमल शब्दों में एकाएक कर्कश आने पर अथवा कर्कश शब्दों में कोमल शब्द आ जाने पर प्रवाह बिगड़ जाता है। संस्कृत-गर्भित भाषा में एकाएक उर्दू का अथवा ब्रजभाषा का शब्द आ जाने पर, संस्कृत शब्द को फ़ारसी लफ़्ज़ के पास बैठाने से, दुरुच्चार्य शब्दों की भरमार होने पर अथवा सहसा छन्द बदल जाने पर भी भाषा-प्रवाह नष्ट हो जाता है। इस पुस्तक के पृष्ठ ११७-११८ पर ऐसे कतिपय उदाहरण दिए गए हैं।

पन्तजी के 'पल्लव' में "निष्ठुर परिवर्तन" शीर्षक एक गीत ऊँचे भावों से भरा हुआ है। इसमें सहस्र फन वाले वासुकि के रूप में परिवर्तन को देख कर कवि ने साङ्ग रूपक बाँधा है :—

अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर !
अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुण्डल दिङ्मण्डल।

सारा छन्द समशक्ति शब्दोंमें—सशक्त ओजस्वी संस्कृत गर्भित भाषा में—होने के कारण, छन्द का प्रवाह प्रभावोत्पादक है। यदि शब्द 'स्फीत' के स्थान में कोई छोटा शब्द रखा जाता तो चतुर्थ पंक्ति उच्चारण की जा सकती है।

'फेनोच्छ्वसित्' एवं 'फूत्कार' के बीच 'स्फीत' शब्द किंचित दुरुच्चार्य है। प्रवाह में बाधा पड़ती है। कवि ने ऐसे शब्द रखे हैं जिनसे वासुकि के फन उठाकर फूत्कार करने की ध्वनि का स्वतः ही आभास होता है; यह तो ठीक है; किन्तु 'स्फीत' के उच्चारण करने में कुछ कठिनाई का बोध होता है जो नहीं होना चाहिए था। फिर भी प्रवाह अच्छा रहा है।

श्री 'नवीन' जी के 'कुंकुम' में एक 'अपूर्ण यात्रा'* शीर्षक कविता बड़ी सुन्दर है। 'चन्द्रवदनी' के रूप में आकर्षित होकर कवि यात्रा पूर्ण नहीं कर सका और पथ-भ्रष्ट हो जाने पर लिखता है :—

पहिली चिड़िया चहक रही थी
अति निर्जन कानन में
अथवा नव चेतना खिली थी
नव जाग्रत आनन में
ऐसे समय भूल कर अपना
और पराया सारा ;
मैं चल पड़ा पार करने को
जीवन पथ अँधियारा ;
उषःकाल बीता, प्रभात बीता
दोपहरी आई ;
एकाकिनी प्रवास-भावना
मग में कुछ अलसाई ;
इतने में ही आँखें ठिठकीं
तेरा उपवन देखा ;
दिल हिल गया खिंच गई मुख पर
आतुरता की रेखा ;
मचल गया यह मनुआ भोला
तव दर्शन पाने को

* पुस्तक का पृष्ठ ११८ देखिए।

चन्द्र-खिलौने से अथवा
अपना मन बहलाने को ;
रुक कर यात्रा पथ से भटका
उलझा तेरी स्मृति में ;
चिन्ताओं ने छाप लगादी
मेरी जीवन कृति में ।

सारे छन्द की भाषा, एक-से शब्दों में, बड़े अच्छे प्रवाह में रही है किन्तु खड़ी बोली के शब्दों में 'मनुआ' शब्द सहसा आजाने से प्रवाह में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। चन्द्र-खिलौने को लेने के लिए बच्चा (मुनुआ) मचला करता है। कवि का मन, बचपन की याद में, 'मनुआ' बन कर आया !! समशक्ति शब्दों के अभाव में वह अलग ही बैठा रहा, घुलमिल नहीं पाया। परिणाम यह हुआ कि 'मनुआ' शब्द के अनन्तर तीनों पंक्तियाँ प्रभावहीन हो गईं। जहाँ युवक-मन छोटे बच्चे के रूप में बोलने का प्रयत्न करेगा वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक ही है !

'जादूगरनी' में श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने 'माया' अथवा 'नारी' के अगणित रूप दिखाते हुए लिखा :—

जब पर्दा करती गुणवान,
चिर रहस्य-सी, गूढ़ प्रश्न-सी
चिर-जिज्ञासा-सी अनजान
कितने उत्कण्ठित हृदयों में
कर लेती युग-युग को स्थान
झीनी-झीनी मधुर बदरिया में
छिप कर मुसकाती है
जग-चकोर की आँखों को तू
आकुलता बन जाती है।

यहाँ भी खड़ी बोली के शब्दों में 'बदरिया' शब्द कानों में खटकता है।

इसका छन्द भी बदल जाने पर प्रवाह की गति बदल गई है और अन्तिम छन्द में प्रवाह रुक रहा है।

'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में एक स्थान पर निम्नलिखित छन्द है :—

शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्व करते हैं मनुज के कार्य ;
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश
और करता शब्द गुण अम्बर वहन सन्देश
नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल

सारे छन्द में तत्सम शब्दों की भरमार है। केवल एक उर्दू का लफ्ज़ 'हुक्म' बुरा मालूम होता है। वह सबसे अलग बैठा हुआ है। मालूम ऐसा पड़ता है कि उसकी बोलती बन्द है! वह सारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। * हम उर्दू शब्दों के विरुद्ध नहीं हैं। यदि उर्दू शब्द लाने हैं तो धीरे-धीरे संस्कृत पदावली से नीचे उतरना पड़ता है। इस सम्बन्ध में एक दूसरा छन्द 'कुरुक्षेत्र' से उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है :—

चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान :
मोम सी कोई मुलायम चीज़
ताप पा कर जो उठे मन में पसीज-पसीज ;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार ;
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार ;
चांदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान ;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान ;
रंग में घुलता हुआ खिलती कली का राज
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज़
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर
फूल की, रस में बसी भीगी हुई जंजीर।

---

* देखिए पृष्ठ १३७, १३८, २०६ से २०८।

रेखाङ्कित शब्द यहाँ छन्द में अच्छी तरह अपनी बिरादरी के शब्दों में घुले-मिले हुए हैं। 'भोर' शब्द अवश्य खड़ी बोली का नहीं है और न इस बोली में घुल-मिल सकता है। 'प्रातः की मुसकान' अथवा 'सुबह की मुसकान' अच्छा प्रतीत होता है। किन्तु खड़ी बोली गद्य में भी यह शब्द व्यवहृत हो रहा है।

जो कतिपय उदाहरण हमने ऊपर दिए हैं उनसे यह आशय स्पष्ट हो गया होगा कि किस समय भाषा प्रवाह में बाधाएँ पड़ती हैं।

कहा यह भी जाता है कि चिन्तन-प्रधान रचनाओं में प्रवाह नहीं आ सकता। मेरी राय में यह बात सही नहीं है। यदि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है तो कविता में अवश्य भाषा-प्रवाह सुन्दर रहेगा। चाहे विषय इतिवृत्तात्मक हो अथवा चिन्तन-प्रधान। अवश्य, उस चिन्तन का आधार समाचार-पत्रों में पढ़े हुए व्याख्यान एवं उनमें निकले कतिपय लेख नहीं होने चाहिए। कवि की स्वानुभूति का आधार कुछ तो होना चाहिए। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक कवि ने किसी को यह कहते सुना कि एक छोटे क्षण का बड़ा महत्व है। कवि ने चिन्तन किया तो उसकी सुप्त स्मृति जग उठी। उसे याद आया कि वह क्षण जिसमें सहसा वह प्रणय-सूत्र में बंध गया था और फिर क्षण-क्षण सुख की सामग्री जुटती गई। एक क्षण में उसके हृदय में नवीन भाव आए और उसने कविता लिखी; दूसरे क्षण में उसकी कविता सहृदयों ने सुनी; और उसकी अत्यधिक प्रशंसा की; तीसरे क्षण में कविता प्रकाशित हुई, और संसार के प्रसिद्ध पत्रों ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया, चौथे क्षण में उस कविता के ऊपर संसार का भारी पारितोषक मिला; फिर पाँचवें क्षण उसके घर पुत्र-रत्न की उत्पत्ति भी हुई। एक-एक क्षण में ही मानों सब कुछ होता रहा था। कवि ने सोचा ओहो एक छोटा क्षण कितने महत्व का होता है। फिर सोचा, क्या एक क्षण में अच्छी बातें ही होती हैं बुरी नहीं होती हैं? कवि को तब सहसा याद आ गई उस क्षण की जब उसकी ममता की साकार मूर्त्ति माता सहसा चल बसी थी, और फिर उस क्षण की जब एक क्षण में अग्नि से सहसा जल कर मृत्यु हो जाने पर उसकी छोटी भगिनी भी चल दी। फिर अपने उस भाई

की जो ऊपर छत से सहसा गिर कर जन्म भर को पंगु बन गया था ! यह भी एक क्षण की ही घटना थी। और तब उस मित्र की जिसको सोते सोते पक्षाघात ने दबा कर जीवनयापन में नितान्त असमर्थ बना डाला ! कवि ने परिणाम यह निकाला कि जीवन में इन्हीं छोटे-छोटे क्षणों का महत्व है। इन्हीं छोटे-छोटे क्षणों से जीवन-माला गुथी हुई है। एक छोटे क्षण में सब कुछ हो सकता है। जीवन-प्यास भी बुझ सकती है और सारा जीवन सहसा नष्ट हो सकता है। कवि की स्मृतियों ने अनुभूति तीव्र करदी थी अतः लेखनी चलने चली। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि श्री रामदयाल पांडेय ने इसी प्रकार सोचा होगा किन्तु उनके 'अशोक' की निम्नलिखित पंक्तियों का भाषा-प्रवाह बड़ा सुन्दर हो गया है। भाव तो ऊंचा है ही।

है एक एक पल से निर्मित
जीवन की यह काया विशाल
पल ही हैं इसके अमित अङ्ग
संयम है इसका दिव्य भाल

ज्यों एक अंग का रोग निखिल
काया को शिथिल बनाता है
त्यों लघु पल की दुर्बलता से
जीवन दुर्बल हो जाता है।

ज्यों किरण किरण की आभा से
बनता प्रभात का उजियाला
त्यों क्षण-सुमनों के सौरभ से
गुम्फित होती जीवन—माला

\+ + + —

क्षण भर की आँधी भर देती
युग के रंध्रों में कोलाहल
क्षण भर का गति-वैषम्य मचा
देता जीवन में उथल पुथल

क्षण भर का पक्षाघात छीन
लेता अंगों की अंगड़ाई;
संध्या का छोटा क्षण बटोर
लेता दिन भर का अरुणाई।
क्षण-क्षण के अर्जित गौरव से
जीवन होता गौरव—शाली
क्षण - क्षण का मधुरस पी-पीकर
भरती मधु से जीवन—प्याली।

साराँश यह कि जितना कवि का भाषा पर अधिक अधिकार होगा, संसार का जितना अधिक विभिन्न स्तरों का एवं व्यापक अनुभव होगा और अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होगी, भाषा उतनी ही अधिक स्वाभाविक होगी और भाषा-प्रवाह उतना ही अधिक सुन्दर रहेगा।

× × × ×

मेरे लेखों में कई बातें दुहराई अवश्य गई हैं। किन्तु यदि ये ही बातें बार-बार दुहरानी भी पड़ी हैं तो भी मैंने सकोच नहीं किया क्योंकि आधुनिक कविता की भाषा का रूप देखते हुए नवकवियों एवं कविता प्रेमियों के हृदयों में यह बात भली प्रकार बैठालने का मैंने प्रयत्न किया है कि साधारण कविता में प्रसाद गुण, औचित्य, एकरूप भाषा, दोष-हीन भाषा एवं भाषा-प्रवाह—ये पाँच बातें होनी आवश्यक हैं। काव्य-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए ये तैंतीस प्रतिशत अंक हैं। सुन्दर रचनाओं के लिए थोड़े से शब्दों में गंभीर भाव दिखलाने के अतिरिक्त कुछ अधिक परिश्रम करने की और आवश्यकता है। यह मेरे दूसरे ग्रन्थ का विषय है। इस सम्बन्ध में जो विचार प्रकट कर चुका हूँ वह इस पुस्तक के अन्तिम लेख 'सजीव कविता' शीर्षक में पाठकों को मिलेंगे। 'कृष्णायन' और 'कुरुक्षेत्र' पर भी कुछ विचार इस लेख में मिलेंगे। इन्दौर की 'वीणा' के सम्पादकद्वय प्रोफेसर कमलाशंकरजी मिश्र एम०ए सा०र० और श्री भालचन्द्र जोशी एम० ए०, सा० र० का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने १९४९ व १९५० के 'वीणा' के अंकों में इस लेख का अधिकाँश प्रकाशित कर दिया है।

नव कवियों का ध्यान, अन्त में, मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि कला के मन्दिर में धैर्य ही वास्तव में 'प्रतिभा' है। कठिनाइयों के बीच में भी, धैर्य रखकर कवियों ने अपनी रचनाओं में भाषा-दोष एवं अनौचित्य हटाकर, भाषा की स्पष्टता, भाषा की एकरूपता, भाषा-प्रवाह, पात्रों के अनुरूप भाषा और विचारों के साथ साथ यदि ध्वनि-योजना, शब्दों के पर्याय, भावानुकूल शब्दचयन, प्रसंगानुकूल शब्द-स्थापना एवं प्रौढ़ विचार-शक्ति पर अधिक ध्यान दिया तो आधुनिक हिन्दी कविता में शीघ्र ही प्रसाद गुण एवं अर्थ-गौरव से समलंकृत कालिदास एवं तुलसीदास की कोमल-कान्त पदावली, सूक्ष्म-दृष्टि, उक्ति-वैचित्र्य, एवं अनूठी कल्पना दिखाई पड़ने लगेगी और तभी हमारा स्वप्न सत्य हो सकेगा।

१८, गाँधी रोड,
ग्वालियर।

बृजकिशोर चतुर्वेदी

प्रथम भाग

भाषा-भार सँभारि हैं, क्यों कविवर सुकुमार ?
डगमग डगमग हो पग, छाया ही के भार !!

आधुनिक कविता की भाषा

अवगुण्ठन युग

श्री गुप्तजी की 'यशोधरा' और 'बच्चन' का 'निशा-निमंत्रण'

कविता के लिए भाव और भाषा दोनों की आवश्यकता होती है। भाव मुख्य है, भाषा गौण। परन्तु हृदय में कविता का वास्तविक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए जितनी अधिक आवश्यकता अपूर्व भाव की है उतनी ही अधिक सुन्दर मँजी हुई टकसाली-भाषा की भी।

तुलसीदासजी की कोई चौपाई ले लीजिए। ऐसा मालूम होगा कि एक-एक शब्द चुन-चुन कर रखा गया है। बिहारी के सात सौ दोहों में कोई भी दोहा ऐसा नहीं है जिसमें एक भी शब्द बदला जा सकता है। स्वर्गीय पद्मसिंहजी शर्मा ने एक स्थान पर एक कवित्त और एक दोहे की तुलना करते हुए लिखा था कि दोहा पेंच में कसी हुई रुई की गाँठ मालूम होता है और कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घास का गट्ठर। अच्छी तरह छान-बीन करके देखा जाय तो प्राचीन हिन्दी-कविता और आधुनिक हिन्दी-कविता की भाषा में यह भेद अलग नजर आता है। छायावाद की छाया भाव पर पड़ी या नहीं, कहा नहीं जा सकता, परन्तु भाषा को उस छाया ने बुरी तरह दबा लिया है।

रसखान और घनानन्द ने अपने काव्य में वे शब्द नहीं आने दिये थे जो थोड़े भी कर्ण-कटु या कठोर मालूम होते थे, परन्तु आजकल की कविता में, जबरदस्ती और बेमतलब, संस्कृत के कठोर शब्द, भर देना, छायावाद की एक निशानी समझी जाती है।

जहाँ उर्दू शायर एक-एक शब्द को चुन-चुन कर शेर में इस मतलब से बैठालने की कोशिश करते हैं कि सुनते ही कलेजे में तीर की तरह जा घुसे—वहाँ हमारे हिन्दी के आधुनिक कवि, अपने अंग्रेज़ी समालोचकों की दुहाई देते ए, बहाव में, जो कुछ उल्टे सीधे शब्द सामने आते रहें उनको ही कविता में भर देना पर्याप्त समझते हैं। और जब तक आधुनिक छायावाद के 'बेसिक" (Basic) शब्द कविता में न आवें तब तक कविजी को संतोष नहीं हो सकता।

ये 'बेसिक' शब्द कौन-कौन से हैं, इनका विवेचन किसी स्वतन्त्र लेख में किया जायगा। परन्तु 'अवगुण्ठन', 'तन्द्रिल' 'नीड' 'उर्म्मि' 'बतास' 'बातायन' 'स्मित' 'स्निग्ध' 'फेनिल', 'उच्छ्वास', 'स्वप्निल', 'तरी', और 'चल' शायद बहुत ही अच्छे शब्द समझे गये हैं और हर एक छोटी और बड़ी कविता में इनका आना अनिवार्य माना गया है।

अवगुंठन-युग

'अवगुंठन' शब्द का 'निराला' 'पन्त', 'बच्चन' और महादेवीजी ने इतने बार प्रयोग किया है कि प्रतीत तो यह होता है कि छायावाद का प्रणव यही हो। 'यामा' में १०० बार से भी अधिक इस शब्द का प्रयोग हुआ है—कहीं-कहीं प्रयोग उत्तम है, कहीं-कहीं मध्यम और कहीं-कहीं अधम, परन्तु इतना अधिक प्रयोग, किसी भी शब्द का कानों को थका डालता है। दो एक नमूने दिखलाना अनुचित न होगा—

(१) काल सीमा के सङ्गम पर
मोम सी पीड़ा उज्ज्वजल कर
उसे पहिनायी अवगुण्ठन
हास औ रोदन से बुन—बुन

(२) तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुण्ठन से

मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
परिचित हो लूँ कण-कण से
(३) मृदु फेनमय मुक्तावली से
तैरते तारक श्रमित
सखि ! सिहर उठती रश्मियों का
पहिन अवगुण्टन अवनि
(४) मिथ्या प्रिय मेरा अवगुण्ठन !
पाप शाप, मेरा भोलापन !
चरम सत्य, यह सुधि का दर्शन
अन्तहीन, मेरा करुणा कण
(५) तारक मय नव वेणी बन्धन
शीश-फूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित घन-अवगुंटन
मुक्ता हल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी
(६) उजियारी अवगुण्ठन में
विधु ने रजनी को देखा
तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ
उनके चरणों की रेखा
(७) गुलाबी चल चितवन में बोर
सजीले सपनों की मुसकान
झिलमिलाती अवगुण्ठन डाल
सुना कर परिचित भूली तान
(८) घोर घन की अवगुण्ठन डाल
करुण सा क्या गाती है रात ?
(९) आज कहाँ मेरा अपनापन !
तेरे छिपने का अवगुण्ठन
मेरा बन्धन तेरा साधन

यह नहीं कि 'अवगुण्ठन' की जगह 'घूँघट' से काम नहीं चल सकता था, या आपको 'घूँघट' शब्द से चिढ़ थी। महादेवीजी ने 'घूँघट' का भी प्रयोग किया है। और वह भी एक जगह नहीं, कई जगह—दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) 'आता कौन' नीड़ तज पूछेगा
बिहगों का रोर
दिग्वधुओं के घन-घूँघट के
चंचल होंगे छोर

(२) स्निग्ध रजनी से लेकर हास
रूप से भर कर सारे अंग
नये पल्लव का घूँघट डाल
अछूता ले अपना मकरन्द

'बच्चन' ने जब देखा कि 'अवगुण्ठन' के बिना कविता, कविता नहीं मानी जा सकती तो उन्होंने भी लिखा कि—

दिग्वधुओं का मुख तमाच्छन्न
अब अस्फुट आभा से प्रसन्न
यह कौन उषा का अवगुण्ठन ?
गा-गा करके खोलने लगी ?

महादेवीजी का प्रभाव वर्तमान हिन्दी-कवियों पर अत्यन्ताधिक है, यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रयाग में रहकर 'बच्चन' भी किस तरह बच सकते थे ? 'अवगुंठन' आ चुका था तो 'घूँघट' भी आना-ही चाहिए था। आपने पुनरुक्ति दोष की परवाह न करते हुए लिख डाला:—

"देख, रात है कितनी काली !
आज सितारे भी हैं सोए
बादल की चादर में खोए
एक बार भी नहीं उठाती, घूँघट-अवगुंठन वाली"

(निशा-निमन्त्रण ३८)

दूसरे कवियों का भी करीब-करीब ऐसा ही हाल है—अधिक लिखना व्यर्थ है।

छायावाद के 'प्रणव' के उदाहरण हर एक नये कवि को कविता में आसानी से मिल जायँगे। मैं समझता हूँ कि अगर वर्तमान हिन्दी-कविता-युग को "अवगुंठन-युग" कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

मैथिलीशरणजी गुप्त की 'यशोधरा'

'रहीम' ने लिखा था—

दोहा दीरघ अरथ के,
आखर थोड़े आहि,
ज्यों 'रहीम नट कुंडली
सिमटि कूदि कढ़ि जाहि'

जरा से दोहे में, दीर्घ अर्थ, सही सलामत, बिना उलझे, निकाल देना ही वास्तविक कविता मानी जाती थी, परन्तु श्रद्धेय गुप्तजी 'रहीम' की इस बात के कायल नहीं।

आप किसी सिद्धान्त पर प्रारम्भ में चलते रहे हों, परन्तु 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-बध' के बाद जब आपने नवीन क्षेत्र में पदार्पण किया तो 'बहुत-से शब्द और थोड़े से अर्थ' का सिद्धान्त सामने रखा। आपकी प्रसिद्ध कृति 'यशोधरा' इसी सिद्धान्त को दृष्टिगत रख कर लिखी गयी प्रतीत होती है। अनेकानेक वर्तमान कवि भी इसी परिपाटी के अनुगामी हो रहे हैं।

जिसने 'भारत-भारती', जयद्रथ-बध', विरहणी ब्रजांगना' लिखी हों—'पलासी के युद्ध' का सुन्दर अनुवाद पद्य में किया हो—वही महाकवि बाद में अपना समय 'यशोधरा' ग्रन्थ पर नष्ट करेगा—यह देखकर किसको दुःख नहीं होगा ?

सिद्धार्थ के मुँह से एक संस्कृत और गँवारू भाषा मिश्रित कविता कहला कर पुस्तक का प्रारम्भ किया गया है। इसमें क्या भाव है? हमारी समझ में नहीं आया। सिद्धार्थ कहते हैं—

"घूम रहा है कैसा चक्र
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र।

इसका अन्तिम पद्य है—

बाहर से क्या जोड़ूँ-जाड़ूँ
मैं अपना ही पल्ला झाड़ूँ
तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ
रह भवसागर नक्र

'जोड़ूँ जाड़ूँ' 'पल्ला झाड़ूँ,' दाँत उखाड़ूँ' 'तक्र', 'चक्र', और 'भवसागर नक्र' का एक अजीब समा जुटाया गया है। नये-नये अशुद्ध और अनुपयुक्त शब्दों की भरमार अगर देखनी है तो पृष्ठ ११ से १८ तक की तुकबन्दी देखिए। कुछ उदाहरण लीजिए—

(११) भूले हैं अपना अपरिणाम
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम

(१२) चिर निद्रा की सब झूमझाम
हो जाय और भी प्रबल पाम

(१५) तो सत्य कहाँ? भ्रम और भ्राम

(१७) दुल मातृ हृदय के मृदुल दाम
भय, कह, किस पर यह भूरि भाम
मेरा प्रभात यह रात्रि याम

(१८) वह जन्म-मरण का भ्रमण-भाण

'अपरिणाम' क्या होता है? 'चिर-निद्रा की झूमझाम' है या तुकबन्दी की? 'प्रबल पाम', 'दुल', 'दाम', 'भूरि-भाम', 'रात्रियाम'

और 'भाण' से क्या तात्पर्य है ? और किस तरह ये प्रयोग यहाँ उपयुक्त हैं ? 'राम-राम का क्या संकेत है ? कौन बताने की हिम्मत करे ?

सिद्धार्थ की माता महा प्रजावती एक स्थान पर कहती हैं। (पृष्ठ २८)

"निकले भाग्य हमारे सूने
बत्स दे गया तू दुख दूने
किया मुझे कैकेयी तूने
हा कलंक यह काला !
मैंने दूध पिला कर पाला !!

अपनी माँ को 'कैकेयी' बुद्धदेव किस तरह बना सकते थे ? क्या बुद्धदेव ने कहीं यह भी कहा था कि उनकी माँ ने उनके पिता से उनके बड़े भाई को बनवास दिला दिया इसलिए पिताजी का स्वर्गवास हो गया है और उनकी माँ 'कैकेयी' है ? या महा प्रजावती को इसकी जरा भी आशंका थी ? या फिर कुछ न कुछ लिखना ही अभीष्ट था ?

पृष्ठ ४१ पर लिखा है—

बिदा न लेकर स्वागत से भी
वंचित यहाँ किया है;
हन्त ! अन्त में यह अविनय भी
तुमने मुझे दिया है।

'हन्त', 'अन्त' का अनुप्रास देखिए कितना सुन्दर है ? उपयुक्त हो या नहीं; मतलब निकले या नहीं—अनुप्रास तो है !! और 'अविनय' क्या ? ढीठता ? या 'अपरिणाम ?'

पृष्ठ ६६ पर एक 'नई तरंग' चल गयी है। आप लिखते हैं—

जलने को ही स्नेह बना !
उठने को ही वाष्प बना, है
गिरने को ही मेह बना।

जलता स्नेह जलावेगा ही
फोले बाष्प फलावेगा ही
मिट्टी मेह गलावेगा ही
सब सहने को देह बना !

निम्न लिखित कविता भी पढ़ लीजिए और सोचिए कि ऊपर की कविता से रत्ती-रत्ती मिल जाती है या नहीं ?

'भू, भूकम्प, हलावेगा ही
दुर्मुख दाल दलावेगा ही
गाड़ी-बैल चलावेगा ही
मिट जाने को देह बना'

"फोले बाष्प फलावेगा ही" कितनी सुन्दर उक्ति है ? वास्तव में कहने का ढँग होता है जो बात गुप्तजी कहने का प्रयत्न करते हैं और जोड़-तोड़ कर भी नहीं कह पाते वही बात महादेवीजी बड़ी मधुर भाषा में बड़ी सुगमता के साथ कह जाती हैं। कहने का ढँग तो देखिए :—

"विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द
यहाँ किसका अनन्त यौवन
अरे अस्थिर छोटे जीवन !"

'यशोधरा' के सिद्धार्थ का आचार-विचार कैसा था, यशोधरा और सिद्धार्थ में कैसा प्रेम था। यशोधरा की दृष्टि में सिद्धार्थ का रहन-सहन अच्छा था या बुरा ? पुस्तक में स्पष्ट रूप से विवेचन नहीं किया गया। परन्तु पृष्ठ २० पर जो कवित्त 'यशोधरा' के मुख से कहलाया गया है वह अत्यन्त निन्दनीय है। यशोधरा कहती हैं—

"आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,
मानती हूँ उनको गहन बनगामी मैं।
ध्यान-मग्न देख उन्हें एक दिन मैंने कहा—
क्योंजी प्राण-वल्लभ कहूँ या तुम्हें स्वामी मैं ?
चौंक, कुछ लजित से, बोले हँस आर्यपुत्र
योगेश्वर क्यों न होऊँ, योगेश्वर नामी मैं
किंतु चिंता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ
तो हूँ जार पीछे, प्रिये ! पहिले हूँ कामी मैं !!

भाव हीन, भाषा हीन, अनर्गल बकवाद ही नहीं—यह तुक-बन्दी, सिद्धार्थ और यशोधरा दोनों के सदाचार की मूर्तियों के उज्ज्वल चरित्र को कलंकित करने को पर्याप्त है ! सिवाय हिन्दी-समालोचकों के 'यशोधरा' की, और कौन प्रशंसा कर सकता था ?

'बच्चन' का 'निशानिमन्त्रण'

हरिगीतिका छन्द में जितने गुप्तजी सफल हुए उतना दूसरा कोई नहीं हो पाया। पर जब हरिगीतिका छन्द छोड़ कर दूसरा औजार हाथ में लिया तो गुप्तजी उतने ही असफल रहे। यही हाल 'बच्चन' का 'निशा-निमन्त्रण' में हुआ। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' का मधु छोड़ कर जहाँ 'अवगुण्ठन-युग' में आने का प्रयत्न किया वहीं सीढ़ी से फिसलना शुरू हुआ !! क्या अच्छा होता कि छायावाद मधुशाला और मधुबाला तक ही परिमित रहता !

एक अंग्रेजी समालोचक ने एक स्थान पर लिखा है कि अगर अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) अपनी ⅔ कविताएँ नष्ट कर देता तो वह अंग्रेजी-साहित्य में तो क्या संसार के साहित्य में सबसे बड़ा कवि गिना जाता। मेरा विचार है कि बिहारी ने अपनी बहुत सी कविताएँ अपने सामने ही नष्ट कर दी थीं इसीलिए उनकी प्रारम्भिक कविताएँ या वे कृतियाँ दिखलायी नहीं

पड़तीं जो सतसई के दोहों के मुकाबले में बहुत कमजोर थीं। हिन्दी साहित्य में बिहारी का मान इसीलिए इतना अधिक है।

अगर हमारे नवयुग के कवि भी इससे कुछ सबक सीखें तो हिन्दी-साहित्य में उस रद्दी साहित्य का कूड़ा करकट न भर पावेगा जो आजकल चारों ओर बिखरा दिखलायी पड़ता है—

'निशा-निमन्त्रण' में कहीं-कहीं अच्छे भाव अवश्य हैं, परन्तु भाषा में स्थान-स्थान पर शैथिल्य दिखायी देता है। एक स्थान पर लिखा है--

क्या मैं जीवन से भागा था?
स्वर्ण शृंखला प्रेम-पाश की
मेरी अभिलाषा न पा सकी
क्या उससे लिपटा रहता जो
कच्चे रेशम का तागा था?

❀ ❀ ❀

बूँद उसे तुमने दिखलाया
युग-युग की तृष्णा जो लाया
जिसने चिर अथाह मधु-मज्जित
जीवन का प्रति क्षण माँगा था!

शुद्ध संस्कृत शब्दों के बीच में 'कच्चे रेशम का तागा' इतना कमजोर है कि पढ़ते ही या देखते ही टूट जाता है और कविता के बहाव को बिलकुल बिगाड़ देता है। एक दूसरे स्थान पर लिखा है :--

अब घन-गर्जन-गान कहाँ है!
कहती है ऊषा की पहली
किरण लिए मुस्कान सुनहली
नहीं दमकती दामिनि का ही
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है

कहता एक बूँद आँसू झर
पलक पाँखुरी से पल्लव पर
नहीं मेह के लहरे का ही
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।

कविता में कोई खास भाव नहीं है। वही पुरानी बातें पुरानी तरह कही गयी हैं परन्तु 'आँसू' और ऊषा की पहली किरण' का अस्तित्व बताना छायावाद के लिए एक हद तक ठीक है। रही सही यह बात भी तीसरे छन्द में समाप्त हो जाती है जब बिना सोचे समझे 'बच्चन' जी लिख मारते हैं :—

"टहनी पर बैठी गौरैया
चहक-चहक कर कहती भैया
नहीं कड़कते बादल का ही,
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।

जहाँ तक भाव से सम्बन्ध है अगर निम्नलिखित शब्द लिख दिये जाते तो भी आपका भाव सुरक्षित रहता :—

"टहनी पर इक काला कौआ
काँउ काँउ कर कहता हौआ!
नहीं कड़कते बादल का ही,
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है!"

पता नहीं आपने 'गौरैया' को ही तरजीह क्यों देना मुनासिब समझा! रामायण के सम्मानित कागभुशुण्डजी ने क्या अपराध किया था?

एक स्थान पर 'गौरैया' को सम्मान दे चुके थे तो आपको कबूतर-कबूतरी को सम्मान देना अनिवार्य हो गया। आपने एक 'गीत'—'भीगी रात बिदा अब होती' (७६) में लिखा:—

"प्राची से ऊषा हँस पड़ती
विहगावलियाँ नौबत झड़तीं

पल में निर्मम प्रकृति निशा के,
रोदन की सब चिंता खोती।

यहाँ "ऊषा का अवगुण्ठन खुलते ही" सहसा ऊषा हँस पड़ती आपको दृष्टिगोचर हुई। कितना अच्छा दृश्य है? या तो घूँघट से मुँह ढका हुआ ही रहा और अगर खुला तो हँसी ही नहीं रुकी।

ऊषा के 'हँस पड़ने'—मुस्कराने का नहीं—हँस पड़ने का नया दृश्य है। उसी तरह नौबत बजने का नहीं 'नौबत झड़ने' का, नया मुहावरा है। विहगावलियों के 'चें, चें, चें, चें,' से 'नौबत झड़ने' का अवश्य ख्याल हो सकता है! झींगुरों की झनकार से, शायद शाम को, नौबत बजने का ख्याल होता होगा; मगर प्रातः चिड़ियों के चहचहाने से 'नौबत झड़ने का ही ख्याल हो सकता है नौबत बजने का नहीं!

जिस तरह 'नौबत झड़ने' के वर्णन करने का शौक 'बच्चन' को है उसी तरह महादेवीजी ने 'हरश्रृङ्गार' फूलों के झड़ जाने के विषय में कई बार लिखा है। यथा—

'शिथिल मधु-पवन, गिन-गिन मधु कण
हर सिंगार झरते हैं झर-झर!"

हर श्रृंगार के फूल झड़ जाते हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है और मुहावरा भी ठीक ही है। अवश्य, जिसने हरश्रृंगार के झड़ने का दृश्य देखा है वह बिना कहे नहीं रह सकता कि हरश्रृंगार फूल इतनी खामोशी से झड़ते रहते हैं कि कोई यह नहीं कह सकता कि कब झड़ गये और इसलिए "झर-झर" में जो आवाज है, जो ध्वनि है, जो नाद-साम्य है वह बिलकुल अशुद्ध है। इसीलिए शायद आगे जाकर लिखा गया है कि :—

"हीरे झरें शिथिल कबरी में
गूँथे हर श्रृङ्गार कामिनी।"

'ऊषा के हँस पड़ने' या "विहगावलियों" के "नौबत झड़ने" में ही भूल हुई हो यह बात नहीं है, इसी गीत का आगे का अन्तिम भाग और भी अपूर्व है।

"हाथ बढ़ा सूरज किरणों के
पोंछ रहा आँसू सुमनों के
अपने गीले पंख सुखाते,
तरु पर बैठ कपोत-कपोती"

यह दृश्य शायद ही किसी ने देखा होगा। गौरैया का महत्व देखा; तो कपोत-कपोती का भी दृश्य देख लीजिए। भीगे पंख सुखाने के लिए धूप होनी चाहिये। जिस तरह मनुष्य समाज धूप में, शरीर गर्म करने के लिए बैठा करता है शायद उसी तरह "कपोत-कपोती" भी बैठते होंगे। अन्दाज भले ही कर लीजिए; बैठा तो किसी ने भी नहीं देखा होगा क्योंकि सुबह-सुबह 'कपोत-कपोती' दाने-चारे के लिए उड़ जाया करते हैं। वृक्ष पर तो क्या बैठे रहते होंगे। लेकिन अगर वे बीमार हो गये हों तो क्यों नहीं बैठे रहेंगे? जरूर बैठे रहेंगे! फिर समझ लीजिए 'बच्चन' के 'कपोत-कपोती' बीमार ही हैं!

पर क्या आपने यह भी सोचा है कि अगर बीमार हों तो कपोत-कपोती ही क्यों, चील, कौए, अबाबील, सभी पंख सुखाने बैठते होंगे। कपोत-कपोती में ही क्या खास बात रही? खैर, कुछ खास बात होगी ही जब इतने भारी कवि ने जिकर करना मुनासिब समझा! पं० रूपनारायण पांडेयजी ने भी 'बन विहंगम' में 'कपोत कपोती' के ही प्रेम का वर्णन किया है:—

"बन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में,
एक कपोत कपोती कहीं
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता,
ऐसे हिले मिले दोनों वहीं"

समझ लीजिए जब 'बच्चन' छायावाद में पैर आगे कर रहे थे तो पांडेयजी की यही कविता पढ़ रहे थे इसलिए 'कपोत-कपोती' स्मृति से विस्मृत नहीं हो सकते थे। बाकी ख्याल तो अच्छा ही है—

हाथ बढ़ा, सूरज किरणों के
पोंछ रहा आँसू सुमनों के

कितनी ऊँची कल्पना है! सूरज की किरणें हैं वही उसके हाथ हैं, जिनसे वह फूलों के आँसू पोंछ रहा है!!

इसी बात को 'नूह' नारवी ने कितनी अच्छी तरह मगर दूसरी तर्ज में लिखा है:—

"माना कि लुटाया रातों को,
गुलजार में मोती शबनम ने
जब सुबह हुई सूरज निकला,
तो जेब थी खाली फूलों की"

इसी तरह पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी 'प्रथम-रश्मि' में लिखा है:—

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना

सर मुहम्मद इकबाल ने भी एक जगह लिखा था—

"लगती है चोट दिल पै, आता है याद जिस दम
शबनम के आँसुओं पर, कलियों का मुस्कराना"

अगर ऊषा की तरह, संसार के कवियों के फूल और कली, प्रातःकाल में, मुस्करावें तो भले ही मुस्कराने दीजिए, हमारे 'बच्चन' के फूल तो आँसू ही बहाते रहेंगे!! क्योंकि उस समय नन्हे-नन्हे बच्चे भी रोते रहते हैं!! गीत (नं० ७६) में लिखा है—

शुरू हुआ उजियाला होना।
किसी बसे द्रुम की डाली पर
सद्यः जाग्रत चिड़ियों का स्वर,
किसी सुखी घर से सुन पड़ता है

नन्हें बच्चों का रोना

प्राकृतिक वर्णन इतना उत्तम किसी भी साहित्य में नहीं मिल सकेगा !! "सद्यः जाग्रत" और "शुरू हुआ" में ठेठ हिन्दी का ठाठ है। 'किसी' शब्द में, इस गीत में नीति का और बच्चों की प्रीति का दिग्दर्शन है !

एक जगह आपने यही गीत बना डाला:—

"आओ' सो जायें, मर जायें"

क्या बात हुई ? चाहे सो जाओ, चाहे मर जाओ, तबीयत जो हो करो; मगर दोनों काम कैसे कर सकते हो ? और अगर 'मर जाने में' ही 'सो जाना' आ जाता है तो दुहराने की आवश्यकता क्या है ?

मगर 'दुहराने' की आदत बहुत पुरानी है। सैकड़ों उदाहरण 'पुनरुक्ति दोष' के दिये जा सकते हैं। एक जगह यही लिख डाला है—

"सागर में हम कूद पड़े थे,
भूल जगत के कूल किनारे"

'भूल' के साथ 'कूल' मिला कर अनुप्रास की सृष्टि की गयी और 'प्यारे' और 'किनारे' की तुक मिला दी गयी। दो चिड़ियों को एक ही पत्थर से मार दिया गया ! एक जगह लिखा है:—

"साथी हमें अलग होना है
भार उठाते सब अपने बल
संवेदना प्रथा है केवल

अपने सुख-दुख के बोझे को
सबको अलग-अलग ढोना है"

एक नयी बात है। दुःख का बोझा सभी ने बताया है। 'बच्चन' सुख का बोझा भी ढो रहे हैं। समवेदना हमदर्दी किसी के दुःख में ही दिखलायी जाती है मगर आपके यहाँ सुख के बोझे में भी दिखलायी जाती है। समवेदना से किसी का बोझ—किसी का दुःख हलका नहीं होता—केवल प्रथा ही है। 'भार उठाते सब अपने बल' में एक ऐसी खास बात है जो 'सबको अलग-अलग ढोना है' में नहीं आ सकती थी।

सुख-दुःख दोनों का बोझा इनता अधिक है कि आप उसमें दब चुके हैं और दोनों की वजह से आपकी "छाती विस्तृत" दग्ध हो रही है, तभी तो आप कहते हैं।

"आ गिन डालें नभ के तारे!
देख मनुज की छाती विस्तृत
दग्ध जिसे करने को संचित
किए गये हैं अंबर भर में
इतने चिरज्वलंत अंगारे"

किसी मनुष्य की छाती इतनी 'विस्तृत' अभी तक किसी कवि ने बतलाने की चेष्टा नहीं की जितनी 'बच्चन' ने बतलायी है। शायद काल पुरुष की छाती से मतलब हो! और कहने का ढंग भी कितना बेतुका-सा है! 'अमीर मीनाई' ने बहुत पहले यही बात बड़े अच्छे ढंग से कही है और बहुत से उर्दू तथा हिन्दी कवि भी दुहरा चुके थे। अमीर ने लिखा था—

"आसमाँ पर जो सितारे नज़र आए 'अमीर'
याद आए मुझे दाग अपने उभरने वाले"

परन्तु 'बच्चनजी' की तो 'छाती' ही जली हुई है। 'दिल' या 'हृदय' जला हुआ नहीं है। वे समझते हैं ये तारे छाती जलाने को ही अंगारे हैं, हृदय जलाने के लिए नहीं।

मगर 'बच्चन' के 'निशा-निमंत्रण' के गीतों को छायावाद से भी अधिक छाया ने ढक लिया है। तभी तो बहुत से कूट-पद भी आपने रच डाले हैं। एक उदाहरण लीजिए—

'स्वप्न था मेरा भयंकर
धार से कुछ फासले पर
सित कफन की ओढ़ चादर
एक मुर्दा गा रहा था, बैठ कर
जलती चिता पर"

स्वप्न का अर्थ क्या है ?बच्चन ही स्पष्ट कर सकते हैं। 'सित कफन' की 'चादर' ओढ़ने की अलबत्ता खास बात रही होगी !! और 'कफन' और 'चादर' दो अलग-अलग चीजें होंगी वर्ना लिखा जा सकता था कि 'सफेद कफन ओढ़ लिया था'—या 'सफेद चादर ओढ़ली थी'। 'धार से कुछ फासले पर' यह बात हुई थी। मगर किस तरफ ? यह स्पष्ट नहीं किया। किसी 'कूल किनारे' की तरफ या जल-पानी ही की तरफ ? 'कुछ फासले' से एक गज दो गज, तीन गज, कितना मतलब है ? जलती चिता में चादर नहीं जली, यह भी कम आश्चर्य नहीं!

आपको नदी के पार का दृश्य अच्छा लगता है, तभी ऐसे स्वप्न दिखायी देते हैं और तभी आपने अच्छे-अच्छे और भी दृश्य वर्णन किये हैं—एक जगह लिखा है:—

कोई पार नदी के गाता
भंग निशा की नीरवता कर
इस देहाती गाने का स्वर
ककड़ी के खेतों से उठकर
आता जमुना पर लहराता !

गाने का स्वर जमुना पर लहराता आता था। वास्तव में, यह गाना नहीं था गाने का स्वर मात्र था। पंचम स्वर होगा, नहीं तो ककड़ी के खेतों से उठकर लहराता किस तरह आ सकता था ?

और वह भी देहाती गाने का स्वर था। ककड़ी खाकर गाना गा रहा था या ककड़ी चोरी करके ले जा रहा था तब गाना गाया था ? यह स्पष्ट नहीं किया गया।

जो लोग नदी के पास रहते हैं वेही जान सकते हैं कि ककड़ी खाकर जब रात में शृगाल जाते हैं तब ऐसे देहाती स्वर में चिल्लाते हैं जो सहसा निशा की नीरवता को भंग कर बड़ी दूर तक लहराता चला जाता है। 'बच्चन' की सूझ तो देखिए। गौरैया, कपोत-कपोती और शृगाल—कितना सुन्दर प्राकृतिक वर्णन किया है। कितनी अनोखी सूझ है ?

अब एक नयी सूझ का और भी नमूना देखिए ! दीपक और पतंग का सम्बन्ध संस्कृत, फारसी, हिन्दू, उर्दू साहित्य में स्थान-स्थान पर गाया गया है। सूरदास का कितना मधुर पद है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यौ

वेदना-प्रधान कवियित्री महादेवीजी का निम्न-लिखित गीत भी इसी विषय पर वेदना के कणों से भीगा हुआ है:—

ओ पागल संसार !
माँग न तू हे शीतल तम मय ! जलने का उपहार।
करता दीप-शिखा का चुम्बन
पल में ज्वाला का उन्मीलन
छूते ही करना होगा
जल मिटने का व्यापार !

और भी अच्छा पद देखिए। 'सांध्य गीत' में लिखा है:—

घेरे है बन्दी दीपक को,
ज्वाला की बेला
दीन शलभ भी दीपशिखा से
सिर धुन धुन खेला ?

❀ ❀ ❀

इसके झुलसे पंख, धूम की उसके रेख रही
इसमें वह उन्माद, न उसमें ज्वाला शेष रही
जग इसको चिर तृप्त कहे
या समझे पछताना
क्या जलने की रीति'
शलभ समझा दीपक जाना

महारथियों में सवार होने की धुन सवार तो थी ही। 'बच्चन' को भी सूझी कि दीपक-पतंग का प्रेम वर्णन करना चाहिए और जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है यह वर्णन बहुत ही अच्छा है और भाषा का प्रवाह भी बड़ा अच्छा थोड़ी देर तक रहा है:—

दीपक पर परवाने आए!
आने पर फड़काते आए!
किरणों पर बल खाते आए,
बड़ी-बड़ी इच्छाएँ लाए बड़ी बड़ी आशाएँ लाए!
जले ज्वलित आलिंगन में कुछ
जले अग्निमय चुम्बन में कुछ
रहे अधजले, रहे दूर कुछ, किन्तु न वापिस जाने पाए!

अगर यहीं समाप्त हो जाता तो यह गीत अच्छा रहता; परन्तु इस प्रश्न का जवाब तो देना ही था कि क्यों वापिस नहीं जाने पाये? और एक ऐसी बात भी बतानी थी जो दीपक-पतंग के प्रेम-वर्णन में अभी तक किसी ने नहीं कही थी। बस, आपने आगे लिख दिया:—

पहुँच गयी विस्तुइया सत्वर
लिए उदर की ज्वाल भयंकर
बचे प्रणय की ज्वाला से जो,
उदर-ज्वाल के बीच समाए!

'विस्तुइया' क्या? शायद छिपकली!! कितना शुद्ध शब्द है! हिन्दीवाले शायद छिपकली को 'विस्तुइया' कहेंगे और उर्दू वाले

शायद "पोशीदा गुंचा" ! नया जमाना है। कुछ भी हो, छिपकली का 'दीपक-पतंग' प्रेम के सम्बन्ध में अभी तक किसी भी कवि ने वर्णन नहीं किया था ! जब दीवाल में लगे बिजली के बल्ब या दीवाल में लटकी लालटैन पर पतंगे आते हैं तो छिपकली का जल्दी-जल्दी दीवाल पर आकर पतंगे खा जाना मामूली बात है जिसे प्रत्येक व्यक्ति ने देखा होगा ! लेकिन अगर लैंप मेज पर रखा हो या बिजली दीवाल से हट कर बीच कमरे में लटक रही हो तो जो पतंगे लैंप छोड़ कर दीवाल पर या छत पर जाकर लगते हैं उन्हीं को छिपकली खा सकती है। दूसरे तो वहाँ पहुँचते ही कहाँ होंगे ? इतनी दूरी पर होती हुई घटना का, दीपक-पतंग-प्रेम से सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है ? और दीपक तो बिजली या लालटैन नहीं है जो दीवाल के सहारे लटका रहे ! अगर छिपकली का वर्णन करना था तो 'बरसात' का भी जिक्र कर देना था, जब पतंगे लाखों की संख्या में मरते दिखाई पड़ते हैं !! शास्त्र में भले ही लिखा हो कि शृङ्गार और वीभत्स रस एक दूसरे के विरोधी हैं किन्तु पाश्चात्य शिक्षा के वातावरण में बढ़ा हुआ कवि शास्त्र की कब परवाह करता है ? आज तो स्वच्छन्द मार्ग और मौलिकता की छाप होनी चाहिए जो 'प्रणय ज्वाला' और 'उदर-ज्वाला' की तुलना से ही आ सकती थी !!

गौरैया, कपोत-कपोती, शृगाल, और छिपकली एक से एक अच्छे वर्णन हैं !! कितनी अनोखी सूझ है ?

'प्रसाद' जी की 'कामायनी'

(१)

'कामायनी' का प्रथम छन्द है—

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह।

इस छन्द में "शीतल छाँह" ध्यान देने योग्य है। प्रतीत यह होता है कि उत्तुङ्ग शिखर पर सूर्य की किरणें बहुत तेज़ थीं। गर्मी से बचने के लिए एक पुरुष एक शिला की शीतल छाँह में बैठकर पास में बहता हुआ प्रलय-प्रवाह देख रहा था।

दूसरा छन्द है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

ऊपर 'हिम' बताकर, 'कड़ी धूप या गर्मी' का भाव विलोप हो जाता है। ऊपर 'हिम' और नीचे अपार जल होने के कारण वहाँ न जाने कितनी अधिक सर्दी हो रही होगी! ऐसी सर्दी में, 'शीतल छाँह' का भाव दिखलाना अनुचित है।

ऊपर बर्फ होगी तो नीचे भी पानी जम गया होगा। 'तरल' पानी सर्दी में तुरन्त ही जमकर 'सघन' बर्फ हो जाता है। प्रलय का जो वर्णन 'प्रसादजी' ने किया है उससे प्रतीत तो यह होता है कि हिमालय पर मनु महाराज जहाँ बैठे थे उसी के नीचे ही पानी बह रहा था। वह पानी कैसे नहीं जम गया होगा? वास्तव में 'ऊपर हिम', 'नीचे जल' और फिर 'शीतल छाँह' के भाव एक दूसरे के विरोधी हैं। तीनों का साथ रहना असम्भव भी है। 'कामायनी' के प्रारम्भिक छन्दों में ही ऐसे विरोधी भाव आने से

प्रथम सर्ग का साहित्यिक मूल्य कुछ कम हो जाता है। कामायनी की रङ्गभूमि के पहिले चित्रपट में ही ये धब्बे देखकर पाठक कुछ हतोत्साह हो जाता है और आगे के छन्द सतर्क होकर पढ़ने पड़ते हैं।

इन दोषों के रहते हुए भी, प्रथम सर्ग का भाषा-सौष्ठव, भाषा-प्रवाह एवं पद-विन्यास बड़ा सुन्दर एवं चित्ताकर्षक है। प्रलय के ध्वंसकारी भीषण रूप का वर्णन, श्रद्धेय प्रसादजी की काव्य प्रतिभा का परिचायक है। प्रथम सर्ग की सजीव भाषा में 'नाव' का अनावश्यक उल्लेख, अवश्य कुछ-कुछ खटकता है। यदि 'नाव' का कुछ भी वर्णन न किया जाता तो प्रथम सर्ग का सौन्दर्य नष्ट न होने पाता। भाषा का प्रवाह सहसा बिगड़ने नहीं पाता।

'नाव' के विषय में निम्नलिखित छन्द ध्यान देने योग्य हैं :—

बँधी महावट से नौका थी सूखे में अब पड़ी रही।
उतर चला था वह जल-प्लावन और निकलने लगी मही॥

× × ×

एक नाव थी, और न उसमें डाँड़े लगते या पतवार,
तरल तरङ्गों में उठ गिर कर बहती पगली बारम्बार;
लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले तट का था कुछ पता नहीं;
कातरता से भरी निराशा देख नियति पथ बनी वहीं;

× × ×

काला शासन-चक्र मृत्यु का कब तक चला, न स्मरण रहा,
महा मत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा;
किन्तु उसी ने था टकराया
इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।

इन छन्दों से यह पता चलता है कि मनु के पास जल-प्लावन के समय एक नाव थी, किन्तु उसकी भी बुरी दशा थी। न उसमें

डाड़े लगते थे और न पतवार ही !! प्रबल थपेड़े लगने के कारण कभी गिरती थी कभी उठती थी और महामत्स्य के चपेटे ने तो 'दीन पोत' का काम ही तमाम कर दिया !! किन्तु उसी ने उत्तर-गिरि के शिर तक ला टकराया और यहाँ पहुँचकर महावट से वह नाव बाँध दी गई।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या मनु को, प्रलय के पूर्व, यह नोटिस मिल चुका था। कि "हे मनु ! तुम नाव लेकर तैयार रहो, प्रलय होने वाला है" ? क्या एक छोटी-सी नाव प्रलय के अपार सागर को पार कर सकती थी ? और विशेषकर उस अवस्था में जब उसमें न डाँड़ लगते थे और न पतवार ?

फिर महामत्स्य ने चपेटा क्यों मारा ? और जब 'दीन पोत का मरण' हो चुका था तो वही जर्जरित नाव महावट से क्यों बाँध दी गई ? क्या उसमें कोई जान बाकी रही थी ? और उत्तर गिरि के शिखर पर किसने ला टकराया ? नाव ने या चपेटे ने ?

'कामायनी' में इन प्रश्नों के उत्तर कहीं पर नहीं मिलते। यदि नाव का वर्णन नहीं किया जाता तो प्रथम सर्ग का कुछ बिग-ड़ता नहीं, प्रत्युत प्रबन्ध-सौन्दर्य अच्छा बना रहता। किन्तु वर्णन करके फिर उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर न मिलने पर 'प्रबन्ध-निर्वाह में' बड़ी भारी कमी प्रतीत होती है।

'कामायनी' के 'आमुख' में कवि ने शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण में प्रबन्ध-निर्वाह बड़ा सुन्दर है। कथा यह है कि प्रलय के पूर्व, एक दिन प्रक्षालन के समय मनु के हाथ में एक मछली आ गई। उस मछली ने कहा कि "हे मनु ! प्रलय आने वाला है, तुम तैयार रहो। अपने लिए एक नाव बनाओ। प्रलय के समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी। मुझे पहले तो कुंभ में रख दो। जब बड़ी हो जाऊँ तो गड्ढा खोदकर उसमें डाल देना। जब और भी बड़ी हो जाऊँ तब समुद्र में छोड़ देना।" मनु ने ऐसा ही किया। जब प्रलय हुआ तो मनु नाव लेकर तैयार थे।

वह मछली बढ़कर 'महामत्स्य' हो चुकी थी। उसी महामत्स्य के शृङ्ग (सींग) से नाव बाँध दी गई और वही महामत्स्य उस नाव को खींचकर उत्तर गिरि छोड़ आया। वहाँ पहुँचकर महामत्स्य ने कहा कि अब नाव वृक्ष से बाँध दो और जैसे-जैसे पानी उतरता जाए वैसे ही तुम भी नीचे चलते जाना। मनु ने वैसा ही किया।

शतपथ ब्राह्मण की कथा कुछ हेर-फेर के साथ महाभारत के वन पर्व में भी बताई गई है। वैवस्वत मनु, चारिणी नदी के तीर पर जब तप कर रहे थे तब एक छोटी मछली ने कहा कि "हे मनु, मुझे बड़ी मछलियों का भय बना रहता है, आप मेरी रक्षा करें।" मनु ने करुणा से प्रेरित होकर उसे हाथ में उठाकर एक मटके में डाल दिया। थोड़े दिनों में वह मछली और भी बड़ी हो गई। मनु ने उसे एक बावड़ी में डाल दिया। और भी बड़ी होने पर गङ्गा नदी में, और फिर समुद्र में डाल दिया। समुद्र में पहुँचने पर मत्स्य ने कहा कि हे मनु! थोड़े समय में इस पृथ्वी पर सारे स्थावर-जंगम जगत का प्रलय होने वाला है। तुम एक सुदृढ़ नौका बना लो जिसमें मजबूत बटी हुई रस्सी बँधी हो। तुम सप्तऋषियों के साथ उस नौका में चढ़ जाना और सब प्रकार के बीज भी सुरक्षित कर उसमें रख लेना। प्रलय होने पर मैं सींगों से युक्त होकर आऊँगा जिससे तुम मुझे पहिचान लोगे।" मनु ने वैसा ही किया। जल-प्लावन के समय, मनु ने, उठे हुए पर्वत के तुल्य उस सींग-धारी मत्स्य को देखा। मनु ने सींगों से रस्सी बाँध दी। मत्स्य अनेक वर्षों तक उस नौका को अपार जल राशि में खींचता रहा। इसके बाद हिमालय की चोटी पर नौका को खींचकर ले गया और ऋषियों से कहा कि हिमालय की चोटी से नौका बाँध दो। ऋषियों ने वैसा ही किया। फिर मत्स्य ने कहा कि "मैं ही प्रजापति एवं ब्रह्मा हूँ। अब मनु को ही सारे देव, असुर, मनुष्य और समस्त प्रजा की रचना करनी चाहिये।" इतना कह कर मत्स्य विलोप हो गया। जहाँ नौका पहुँच गई थी, हिमालय की

उस चोटी को महाभारत में "नौ बन्धन" नाम दिया गया है। जल-प्लावन के बाद, जहाँ मनु उतर आए थे, शतपथ के अनुसार उस स्थान का नाम "मनोरव सर्पणम्" है।

यही कथा कुछ और हेर-फेर कर श्री मद्भागवत् के अष्टम स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में कही गई है। वहाँ बताया गया है कि द्रविड़ देश के राजा सत्यव्रत कृतमाला नदी में जल से तर्पण कर रहे थे, उस समय एक छोटी सी मछली उनकी अञ्जलि में आ गई। राजा ने उसे जल में डाल दिया। तब वह मछली राजा से रक्षा की प्रार्थना करने लगी। इसके अनन्तर श्री मद्भागवत् में भी महाभारत की कथा ही दुहराई गई है। समुद्र में छोड़ने पर मत्स्य ने कहा कि "सत्यव्रत! आज से सातवें दिन तीनों लोक प्रलय के समुद्र में डूब जाएँगे! प्रलय के समय मेरी प्रेरणा से एक नौका तुम्हारे पास आएगी। उस समय तुम समस्त प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को लेकर, सप्त-ऋषियों के साथ उस नौका पर चढ़ जाना। सब प्रकार के धान्य तथा छोटे बड़े अन्य प्रकार के बीजों को साथ में रख लेना। जब नौका डगमगाने लगेगी, तब मैं आऊँगा। तुम लोग वासुकि नाग द्वारा नौका मेरे सींग से बाँध देना। इसके बाद, जब तक ब्रह्माजी की रात रहेगी तब तक नाव खींचते हुए समुद्र में विचरण करूँगा और तुम्हें उपदेश दूँगा। मेरे अनुग्रह से मेरी वास्तविक महिमा जिसका नाम "परब्रह्म" है, तुम्हारे हृदय में प्रगट हो जाएगी।" निदान ऐसा ही हुआ। प्रलय होने पर मत्स्य रूपधारी पुरुषोत्तम भगवान ने प्रलय के समुद्र में विहार करते हुए उन्हें आत्म-तत्व का उपदेश दिया। प्रलय का अन्त होने पर, ब्रह्माजी की नींद टूटी, तब भगवान ने हयग्रीव को मारकर उससे वेद छीन लिये और ब्रह्माजी को दे दिये। राजा सत्यव्रत ही ज्ञान-विज्ञान युक्त होकर, इस कल्प में वैवस्वत मनु हुए।

श्रीमद्भागवत् में मेघ वर्षा एवं समुद्र का बढ़ना दोनों बताये

गए हैं, किन्तु हिमगिरि का उल्लेख नहीं है। मत्स्य पुराण के अतिरिक्त पद्म-पुराण एवं भविष्य पुराण में भी ऐसी ही कथाएँ हैं।

पारसियों के धर्म ग्रन्थ 'जेन्द अवस्था' में भी हिम-प्रलय की सूचना राजा यीमा (Yima) को, प्रलय के पूर्व, अहुर मजदा द्वारा दी गई बताई गई है।

बैबीलोन के जल-प्लावन की कथा में राजा जीसूथ्रस (Xisuthrus) को क्रोनस (Kronus) देवता ने, जल-प्लावन के पूर्व ही प्रलय की सूचना दे दी थी। उसके आदेश के अनुसार राजा अपनी स्त्री, कुटुम्बी, मित्र, पशुओं एवं पक्षियों को लेकर नाव में जा बैठे थे। और अरमेनिया के कुर्दिस्तान के पर्वत पर पहुँच गए थे। बाद में उन्होंने ही सृष्टि प्रारम्भ की थी। इस कथा की प्रशंसा करते हुए फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'पुरातन बाइबिल की जन-कथा' में लिखा है कि शतपथ ब्राह्मण की कथा के मुकाबले में, इस कथा में, सृष्टि प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में अधिक दूरंदेशी बताई गई है।

बाईबिल की कथा में राजा नूह (Noah) ही बच पाए थे। उनको भी पहिले ही सूचना मिल गई थी।

प्रलय की ऐसी कथाएँ संसार के सभी देशों में पाई जाती हैं। बाइबिल के अतिरिक्त चीन, यूनान, ईरान, मध्य और दक्षिण अमरीका, और अफ़रीका में भी ऐसी प्राचीन कथाएँ प्रचलित हैं। सब जगह कोई न कोई मनुष्य बचा रहता है और किसी न किसी भाँति आने वाले प्रलय की उसे सूचना मिल जाती है। और इसलिये वह 'नाव' इत्यादि का पहिले से प्रबन्ध कर लेता है। कई कथाओं में मछली, घायल कुत्ता, उकाव या किसी देवता द्वारा सूचना पहिले ही दे दी गई बताई जाती है।

वास्तव में यदि पहले ही से सूचना न मिल पाए और किसी दैवी शक्ति का आधार न हो तो ठीक प्रलय के समय न तो नाव लेकर कोई पहिले से तैयार ही हो सकता था और न एक छोटी

नाव द्वारा प्रलय के अपार पारावार को पार कर उत्तर गिरि पर पहुँच ही सकता था।

'कामायनी' में महामत्स्य की सहायता का किंचित् भी वर्णन न करके उसके चपेटे से 'दीन पोत का मरण' बनाकर भी मनु को उत्तर गिरि पर सुरक्षित लाकर रख देना—एक नितान्त असम्भव कथा है। प्रतीत होता है कि महामत्स्य नाव को डुबाना चाहता था, फिर भी मनु महाराज बच गए !!

यह देखकर कि 'कामायनी' में मनु की एक प्रधान घटना का ही वर्णन है, सम्पूर्ण जीवन का नहीं, नाव का कोई भी उल्लेख आवश्यक नहीं था। कथा यह लिख कर प्रारम्भ की जा सकती थी कि प्रलय के बाद किसी भाँति मनु हिमालय पर पहुँच गए और फिर उन्होंने जल-प्लावन की समाप्ति पर सृष्टि का कार्य प्रारम्भ किया। किंतु किसी न किसी कारण कवि ने नाव का और महामत्स्य के चपेटे का उल्लेख करना उचित समझा। और शतपथ ब्राह्मण, महाभारत और श्रीमद्भागवत् में वर्णित कथाओं का आधार न लेकर एक प्रतिकूल धारा की ओर इंगित करके पाठकों को भूल-भुलय्यों की मझधार में छोड़ना ही उचित समझा।

संभवत: प्रसादजी को इतने भारी मनु का इतनी छोटी मछली की सहायता लेकर अपार संसार को पार करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। कदाचित उन्होंने इस पर भी विचार नहीं किया कि अन्य धर्मों में भी "मछली" को परमात्मा का प्रतीक ही माना है। बाइबिल में संत ऑगस्टन ने ईसामसीह को "पानी में रहती हुई मछली" बतलाया था। पवित्र ईसाई अपने को छोटी मछलियाँ (Piscicules) ही मानते हैं और उनके एक बड़े प्रसिद्ध ग्रन्थकार (Tertullian) ने लिखा था कि "जल में जितनी मछलियाँ जन्म लेती हैं उनकी रक्षा महामत्स्य द्वारा ही हुआ करती है।" ("So many fishes bred in the water and are saved by one great fish")। मेक्सिको देश की प्रलय कथाओं में बताया

गया है कि प्रलयकाल में सारे नर-नारी मछलियों में ही परिवर्तित हो जाते हैं।

मैदेम ब्लैवेटस्की की प्रसिद्ध पुस्तक "दि सिक्रेट डाक्ट्रिन" की दूसरी जिल्द के पृष्ठ ३२७ पर 'जल', 'प्रलय', 'नाव' और 'मछली' के प्रतीकों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। 'प्रलय' अव्यवस्था का प्रतीक है। 'जल' और 'अत्यन्त गहराई' नारीत्व (अथवा नारी-सिद्धान्त) के सूचक हैं। 'नाव'—बुद्धि के साथ-साथ नारी की गर्भ धारण एवं सृजन शक्ति की भी प्रतीक है। प्रकृति एवं मानवता का बीज नाव में सुरक्षित रहकर अतल समुद्र के जल के ऊपर बहा करता है। 'मछली' दैवीशक्ति अथवा परमात्मा का प्रतीक है।

मछली की सहायता से नाव में बैठे मनु का अतल सागर को पार कर लेना एक समझ में आने वाली बात है; किंतु महामत्स्य के चपेटे के बाद, प्रबल थपेड़ों के लगते रहने पर भी, जर्जरित नाव में, बिना किसी सहायता के, मनु का उत्तरगिरि पर पहुँचकर नाव बाँध देना—ऐसी बात है जो किसी भी प्रकार समझ में नहीं आ सकती।

प्राचीन मत्स्य कथा का आधार लेने में संभवतः प्रसादजी को दो कठिनाइयाँ प्रतीत हुई होंगी। एक तो वर्तमान युग का बुद्धिवाद जो पौराणिक उपाख्यानों में 'असंभव' एवं अप्राकृतिक का ग्रहण नहीं करना चाहता। दूसरी कठिनाई यह प्रतीत होती है कि प्रथम सर्ग का शीर्षक 'चिंता' रखना था और मनु की चिंता का विशद-वर्णन करना था। यदि मत्स्य-रूप-धारी परमात्मा की सहायता बता दी जाती तो चिंता कहाँ रहती? परमात्मा का बोध हो जाने पर तो चिन्ता का विलोप होकर चित्त में 'शान्ति' आ जाती है।

वास्तव में 'चिन्ता' का उग्र रूप दिखाना ही अभीष्ट था; इसी-लिए प्रलय का भी बड़ा भारी उग्र रूप दिखाया गया है। शतपथ, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत् में केवल जल-प्लावन का ही रूप

इस कथा में मिलता है। किन्तु प्रसादजी ने पंच भूतों का तांडव-नृत्य तक दिखा दिया है।

पंच भूत का भैरव मिश्रण
शंकाओं का शकल निपात
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रही ज्यों खोया प्रात
धँसती धरा, धधकती ज्वाला
ज्वालामुखियों के निश्वास
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास

× × ×

करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सब का;
पंच भूत का यह ताण्डव-मय
नृत्य हो रहा था कब का?

पंच भूतों का ऐसा ताण्डव नृत्य होते हुए भी महामत्स्य का चपेटा लगने पर भी, मनु की नौका का हिम गिरि तक पहुँचना और भी कठिन हो गया होगा। बिना किसी दैवी शक्ति के सहारे हिमगिरि पहुँचना असंभव भी है। अवश्य शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्-भागवत् एवं महा भारत में यह प्रलय 'ब्राह्म-प्रलय या नैमित्तिक प्रलय' नहीं बताया गया है। गीता में लिखा हुआ है कि कल्प के अन्त में, जब ब्रह्मदेव की रात्रि प्रारम्भ होती है तब सब व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्त में लीन हो जाते हैं इसी को 'नैमित्तिक प्रलय' भी कहते हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र आदि सारी सृष्टि का भी नाश हो जाता है।

'कामायनी' के प्रथम सर्ग में प्रलय का जो रूप दिखाया गया है वह नैमित्तिक प्रलय का ही रूप है। किन्तु नैमित्तिक प्रलय में मनु भी नहीं बचा करते। नैमित्तिक प्रलय के अतिरिक्त अन्य

प्रलयों में सूर्य, चन्द्र इत्यादि का नाश नहीं होता। शतपथ, श्रीमद्-भागवत् एवं महाभारत के मनु केवल जल-प्लावन से बचकर हिमगिरि पर पहुँचे थे। इसलिए 'कामायनी' के प्रथम सर्ग का आधार शतपथ इत्यादि न होकर "मत्स्य-पुराण" प्रतीत होता है जिसमें प्रलय का उग्र-रूप दिखाया गया है। मत्स्य-रूपधारी परमात्मा मत्स्य पुराण में मनु से कहते हैं:—

"युगान्त में पृथ्वी का वायु भी विकार युक्त हो जाएगा तथा पातालस्थ सङ्कर्षण के मुख से निकली हुई विषाग्नि भी कुपित हो जाएगी। भगवान् शङ्कर के भालस्थ तृतीय नेत्र की अग्नि त्रैलोक्य को नष्ट करती हुई क्षुब्ध हो जाएगी। इस प्रकार जब सम्पूर्ण पृथ्वी जल कर भस्मसात हो जाएगी और आकाश ताप से सन्तप्त हो जाएगा तब देवता तथा नक्षत्रों सहित अखिल संसार नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। उसी समय संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, बलाहक, विद्युत् पताक और शोण—ये प्रलय कालीन सप्त मेघ और सम्पूर्ण समुद्र क्षुब्ध होकर एक रूप हो जायँगे और अग्नि प्रस्वेद-युक्त पृथ्वी को जलमय कर देंगे।"

मत्स्य पुराण का यह वर्णन महा भारत और ब्रह्म-पुराण में वर्णित "नैमित्तिक प्रलय" के वर्णन पर ही अवलम्बित है। ये वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। ब्रह्म-पुराण में बताया गया है कि प्रलय-प्रारम्भ में घोर अनावृष्टि के कारण भूतल क्षीण होता रहता है। जल सूख जाता है। सातों सूर्य सम्पूर्ण त्रिलोकी को जला डालते हैं। पर्वत और वृक्ष जल जाते हैं। पृथ्वी नीरस हो जाती है। ज्वाला-मालाओं के महान् आवर्त के रूप में वह दारुण अग्नि सब ओर चक्कर लगाने लगती है। इसके पश्चात् श्री जनार्दन सम्पूर्ण जगत् को दग्ध करके अपने मुख के निःश्वासों से मेघों को प्रगट करते हैं। ये घोर संवर्तक मेघ उमड़-घुमड़ कर बिजली की गड़गड़ाहट के साथ गर्जना करते हैं। सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त करके भयंकर अग्नि को पूर्ण रूप से बुझा देते हैं और सम्पूर्ण

जगत को जल से आप्लावित कर देते हैं। भुवर्लोक एवं स्वर्गलोक भी डूब जाते हैं। संसार में चारों ओर अंधकार छा जाता है। चर और अचर सब नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में, महान् संवर्तक मेघ सौ वर्षों से अधिक काल तक वर्षा करते रहते हैं।"

यहाँ अनावृष्टि, गर्मी, सूर्य ताप में वृद्धि, ज्वाल-माला, मेघ, बिजली, वर्षा, जल-प्लावन, अंधकार और चर-अचर का नष्ट होना, एक के बाद दूसरे का चला आना—अत्यंत स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक है। बिना अनावृष्टि के गर्मी कैसे बढ़ सकती है? बिना गर्मी बढ़े अग्नि कैसे धधक सकती है? फिर बिना अत्यधिक गर्मी के मेघ कैसे उमड़ सकते हैं?

'कामायनी' में इस क्रम पर ध्यान ही नहीं दिया गया है। वहाँ 'प्रालेय हलाहल नीर' पहिले ही बरसने लगता है। बरसते ही 'हा-हाकार-रव' होने लगता है। दिग्दाहों से धूम के साथ बादल भी उठते हैं और उसी समय झंझा के झटके भी चलने लगते हैं। समुद्र बढ़ता है तब धरा तो धसकती है, किन्तु ज्वाला और भी धधकने लगती है!! वास्तव में, 'कामायनी' में पंचभूतों का एक साथ ताण्डव-नृत्य अवैज्ञानिक एवं अस्वाभाविक हो गया है।

अवश्य, उग्र प्रलय के इस वर्णन में कवि ने कई ग्रन्थों का आधार, स्थल-स्थल पर लिया है। समुद्र या प्रलय का वर्णन—रामायण, महाभारत, ब्रह्म पुराण एवं मत्स्य पुराण में जहाँ कहीं भी मिला है कवि ने अपनाने का प्रयत्न किया है। यथा—

तरल तरंगों में उठ गिर कर
बहती पगली बारम्बार

महाभारत के इस श्लोक का भावानुवाद प्रतीत होता है—

क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन्महोदधौ
घूर्णिते चपलेव स्त्री मत्ता पर पुरञ्जय

(नौका वायु के वेग से उछलते हुए समुद्र में इधर-उधर डग-

मग रही थी—जैसे कोई उन्मत्त चपल स्त्री इधर-उधर घूमने लगती हो।)

एक स्थान पर 'कामायनी' में लिखा है

बेला क्षण-क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ
उदधि डुबा कर अखिल धरा को
बस मर्यादाहीन हुआ।

यह भी महाभारत के निम्नलिखित श्लोक का 'छायाभास' ही प्रतीत होता है:—

ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत
पर्वताश्च विदीर्यन्ते महीचाप्तु निमज्जति

(पर्वतों को तोड़ कर पृथ्वी को डुबाने के लिए समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ देंगे)

एक अन्य छन्द है:—

सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी
ऊभ चूभ थी विकलित सी

यहाँ 'कच्छप-सी धरणी' ध्यान देने योग्य है। समुद्र की तरंगों में कच्छप न तो विचलित होता है और न विकलित !! फिर धरणी को 'कच्छप सी' क्यों बताया? 'ऊभ चूभ' में भाषा का सौंदर्य निखर रहा है !!

ब्रह्म पुराण में लिखा है—तीनों लोकों के जल और वृक्ष दग्ध हो जाने के कारण यह पृथ्वी कच्छप की पीठ की भाँति दिखाई देती है—

ततो निर्दग्ध वृक्षाम्बु त्रैलोक्यमखिल द्विजाः
भवत्येषा च वसुधा कूर्मपृष्ठोपमाकृति

जहाँ ब्रह्मपुराण का श्लोक स्वाभाविक है—कामायनी का पद अस्वाभाविक हो गया है।

एक अन्य स्थल पर लिखा है—

पवन पी रहा था शब्दों को निर्जनता की उखड़ी साँस,

पवन का शब्दों को पी जाना बड़ी विचित्र कल्पना है! ब्रह्मपुराण एवं महाभारत दोनों में लिखा है कि "तदनन्तर इस घोर वायु को ब्रह्मदेव पीकर सो जाएगा—"

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयंभूर्मनुजाधपि
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत।

इसी श्लोक का 'छायाभास' 'कामायनी' के पद में प्रतीत होता है।

हम इस सम्बन्ध में अधिक न लिख कर केवल 'कामायनी' के छन्द और उनके आधारभूत 'रामायण' और 'महाभारत' के श्लोकों को यहाँ उद्धृत करना ही पर्याप्त समझते हैं! पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि दोनों में कितना अधिक भाव-साम्य अथवा शब्द-साम्य है।

कामायनी

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के!
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके!

महाभारत

दिशः प्रज्वलिता सर्वा नक्षत्राण्य प्रमाणि च
ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्य्याकुलास्तथा
❀ ❀ ❀
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः

(उस समय सारी दिशाएँ जल उठेंगीं; नक्षत्रों की प्रभा निकल जायगी। सारी ज्योतियाँ उल्टी होंगी, व्याकुल करने वाला वायु तेज होकर चलने लगेगा, जोर-जोर से बिजली गिरने लगेगी। सब ओर से दिग्दाह होने लगेगा।)

कामायनी

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घन-माला में
सौदामिनी संधि-सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में

महाभारत

ततो गजकुल प्रख्यास्तडिन्माला विभूषिताः ७४
❀ ❀ ❀
विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्टन्ति वै घनाः ७८

अध्याय १८८

(हाथियों के यूथ सदृश बिजली की माला से विभूषित मेघ आकाश में छा जाएँगे । वे मेघ बिजली की माला पहिने हुए होंगे ।)

कामायनी

बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष
मानों नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष

महाभारत

घोर रूपा महाराज घोरस्वन निनादिताः
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम् ।

(अध्याय १८८ श्लोक ७६)

(मेघ भीषण रव करेंगे और भयङ्कर मेघों से सारा नभस्थल भर जाएगा)

रामायण (युद्ध काण्ड, सर्ग ४)

सागर चाम्बरं प्रख्यमम्बरं सागरोपमम्
सागरं चाम्बरं चेति निर्विशेषमदृश्यत ११५
संपृक्तं नभसाप्यम्भः संपृक्तं च नभोऽम्भसा
तादृग्रूपे स्म दृश्येते तारारत्न समाकुले ११६

समुत्पतित मेघस्य वीचिमाला कुलस्य च
विशेषो न द्वयो रासीत्सागरस्याम्बरस्य च ११७

(सागर आकाश के समान और आकाश सागर के समान मालूम पड़ता है ; सागर और आकाश में कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता है। सागर का जल आकाश को छू गया है ; आकाश सागर को छू रहा है, अतएव, तारा और रत्न युक्त दोनों एक समान मालूम पड़ते हैं। आकाश में मेघ उठ रहे हैं, सागर में लहरें उठती चली आ रही हैं, अतएव सागर और आकाश में कोई भेद दिखाई नहीं पड़ रहा है।)

जहाँ रामायण का यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है वहाँ 'कामायनी' का उपर्युक्त छन्द अस्वाभाविक एवं अव्यवस्थित भी है। 'धरती का कँपना' और 'नील व्योम का उतरना' दो पृथक् बातें हैं और दोनों एक दूसरे से असम्बन्धित भी हैं। उनके बीच में "मानों" शब्द बुरी तरह खटक रहा है। 'नील व्योम का उतरना' सागर के उठते हुए जल के समय ही प्रतीत होता है! भीषण रव से डरती हुई धरती के समय तो उसका आभास भी नहीं हो पाता।

कामायनी

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी

रामायण (युद्ध काण्ड)

हसन्तमिव फेनौर्घैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ११०
मकरैर्नाग भोगैश्च विगाढ़ा वात लोलिताः
उत्पेतुश्च निपेतुश्च प्रहृष्टा जलराशयः ११३

(समुद्र फेनराशि से हँसता हुआ और लहरियों से नाचत

हुआ मालूम पड़ता है। मकर और नाग सरीखी ये लहरें प्रसन्न होकर कभी ऊपर और फिर नीचे जा रही हैं।

अन्योन्यै रहताः सक्ताः सस्वनुर्भीम निःस्वनाः
ऊर्मयः सिन्धुराजस्य महाभेर्य इवाम्बरे ११८

(सागर की लहरें आपस में टकराकर भयंकर गर्जन कर रही हैं मानों आकाश में नगाड़े बज रहे हैं।)

कामायनी

अन्धकार में मलिन मित्र की,
धुँधली आभा लीन हुई।
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा,
स्तर-स्तर जमती पीन हुई।
पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शम्पाओं के शकल-निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ,
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
बढ़ने लगा विलास वेग-सा,
वह अति भैरव जल संघात।
तरल तिमिर से प्रलय पवन का,
होता आलिङ्गन प्रतिघात॥

रामायण

भास्करांशुभिरादीप्तं तमसा च समावृतम्॥
प्रचकाशे तदाकाशमुल्काशत विदीपितम्।
अन्तरिक्षाच्च निर्याता निर्जग्मुरतुलस्वनाः॥
वपुः प्रकर्षेण ववुर्दिव्य मारुत पङ्क्तयः।
वभञ्ज च तदा वृक्षाञ्जल दानुद्वहनमुहुः॥
मुमुचुर्वैद्युतानग्नीस्ते महाशनयस्तदा।
× × × ×
सहसा भूत्ततो वेगाद्भीमवेगो महोदधिः॥
योजनं व्यतिचक्राम वेलामन्यत्र संप्लवात् (सर्ग २२, ८ से ११)

(सूर्य की किरणों द्वारा प्रकाशित होने पर भी सारा संसार अन्धकार से आवृत हो गया। उस समय सैकड़ों उल्काओं से प्रदीप्त आकाश प्रकाशित हुआ। अन्तरिक्ष से भयानक शब्द वाले वज्र निकले। दिव्य मारुत बड़े वेग से चलने लगे—वृक्ष टूटने लगे—मेघ इधर-उधर फैलने लगे, बड़ी वैद्युत् अग्नि बरसने लगी। महोदधि मर्यादा का अतिक्रमण करके भीमवेग से बढ़ने लगा और एक योजन तक फैल गया।)

× × × ×

प्रथम सर्ग का भाषा-प्रवाह देखकर जहाँ प्रसन्नता होती है वहाँ प्रसाद जी का इतना विशद अध्ययन देखकर आश्चर्य भी होता है। प्रलय तो किसने देखी होगी ? प्रलय की केवल कल्पना ही की जा सकती है। और प्रलय की कल्पना, प्राचीन ग्रन्थों में किए गए प्रलय-वर्णन का अध्ययन करके ही की जा सकती है। प्रथम सर्ग लिखने में न जाने प्रसादजी को कितना श्रम उठाना पड़ा होगा। प्रथम सर्ग के अनन्तर भाषा का सुन्दर प्रवाह हमें 'इड़ा', 'रहस्य' और 'आनन्द' विषयक सर्गों में ही मिलता है। प्रथम सर्ग के अनन्तर, विचार-शृङ्खला का अभाव होने के कारण, अन्य सर्गों के चित्रों में चमक नहीं रही; उनकी आभा भी फीकी हो गई है ! यदि शतपथ; महाभारत या श्रीमद्भागवत् के आधार पर कथा का वर्णन किया जाता तो अन्य सर्गों की कथा का सिल-सिला बराबर मिलता। किन्तु इस पर ध्यान न देकर प्रसादजी ने मनु की चिन्ता को उग्ररूप देकर उसका उग्र वर्णन करना ही अभीष्ट समझा !!

इस उग्र चिन्ता का वर्णन अवश्य ही प्रभावोत्पादक हो गया है। किन्तु प्रबन्ध-काव्य के लिए यह हितकर नहीं हुआ। ज्वाला-मुखी का फटना, उल्कापतन, बिजली का गिरना और पंचभूत के ताण्डव नृत्य के अनन्तर सारी सृष्टि जल कर स्वाहा हो पानी में डूबी बता दी गई। किन्तु इसके अनन्तर भी मनु के पास श्रद्धा

का आगमन दिखाया जाता है। प्रश्न होता है, श्रद्धा कैसे बच गई ? उत्तर में श्रद्धा से कहलाया जाता है—

भरा था मन में नव उत्साह,
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान।
इधर रह गंधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी सन्तान।

उसके शरीर पर भी गान्धार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म बताए जाते हैं :—

मसृण गांधार देश के, नील,
रोमवाले मेषों के चर्म।
ढक रहे थे उसका वपु कांत,
बन रहा था वह कोमल वर्म।

इतने भारी प्रलय के बाद भी गन्धर्व देश और गांधार शायद बचे हुए थे !! उत्तरगिरि की ऊँची-से-ऊँची चोटी पर नाव पहुँच गई थी किन्तु मेरु, मन्दार, गन्धमादन के साथ-साथ अलकापुरी शायद सुरक्षित बनी रही। सारी देव-सृष्टि नष्ट हो चुकी थी; इन्द्रपुरी भी नष्ट हो गई थी; किन्तु गन्धर्व और अप्सरा सभी सुरक्षित बने रहे !!

इसके अनन्तर 'कर्म' सर्ग में आकुलि और किलात भी पहुँच जाते हैं। 'कामायनी' में लिखा है :—

असुर पुरोहित उस विप्लव से
बच कर भटक रहे थे,
वे किलात आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे।

बड़े भाग्यवान होंगे जो नाव के सहारे के बिना भी बच गए !! शायद असुरलोक भी बच गया था !!

श्रद्धा के साथ पशु था, वह तो अलग; आकुलि और किलात भी

पशु यज्ञ कराते रहे, और मनु मृगया करते रहे। शायद उनकी मृगया के लिए इतने पशु बचे रहे होंगे!

आगे चलकर और भी नई बात मालूम होती है—इड़ा स्वयं भी बच गई थी और सारे सारस्वत प्रदेश की प्रजा भी बची हुई थी। हिमालय की चोटी तक पानी पहुँच जाने पर भी, पंचभूत का ताण्डव नृत्य होने पर भी, सारस्वत प्रदेश की प्रजा बची रही! शायद देव-सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी, किन्तु गंधर्वलोक, असुरलोक, मनुष्यलोक बचे हुए थे! वास्तव में येन-केन-प्रकारेण, न बचाते तो मनु का प्रजा के साथ संघर्ष कैसे दिखाया जाता?

और यह संघर्ष कैसा है? मनु बुरी तरह घायल हो जाते हैं; परन्तु प्रजा में कितने घायल हुए या कितनों की मृत्यु हुई, इसका हमें पता नहीं चलता! यहाँ अभी हाल की उस लड़ाई में की गई रिपोर्ट की सहसा याद आ जाती है जिसमें लिखा जाता था कि हमारी ओर से १५०० फायर हुए मगर दुश्मन की ओर से यह रिपोर्ट नहीं आई कि उसका कितना नुकसान हुआ?

हमें यह भी पता नहीं चलता कि इड़ा और कुमार ने मिलकर क्या किया? क्या-क्या नवीन विधान बनाए और प्रजा ने उन विधानों को माना या नहीं?

श्रद्धा को तकली कातते हुए दिखाया गया है। किन्तु यह पता नहीं चल पाता कि तकली कोरे सपने बुनती रहती अथवा सूत भी बुनती रहती थी!

महाभारत और श्रीमद्भागवत् में नाव में बैठते हुए सभी प्रकार के बीज मनु महाराज लेते गए दिखलाए गए हैं। 'कामायनी' के मनु अपने साथ केवल चिन्ता-ही-चिन्ता ले गए। बीज लेकर नहीं गए थे; कपास हुआ कैसे होगा? इसलिए श्रद्धा ने कोरी तकली चलाई होगी। 'कामायनी' के मनु ने न तो खेती ही की होगी और न प्रजा-सृष्टि ही की। सिवाय मृगया के और क्या करते रहे—पता नहीं चलता!!

वास्तव में 'कामायनी' के मनु कुछ-कुछ सनकी और आधे पागल से प्रतीत होते हैं। न तो वह अकेले सुखी थे और न श्रद्धा के साथ सुखी रहे। केवल मृगया और पशु-यज्ञ में उनको प्रसन्नता प्राप्त हुई प्रतीत होती है। और जब श्रद्धा के पेट में भावी बालक देखते हैं तो पुत्र प्रेम तो नहीं उमड़ता उल्टे ईर्ष्या के भाव उमड़ आते हैं! मनु गर्भवती श्रद्धा को उसी अवस्था में छोड़कर सदा के लिए चले जाते हैं!!

मनु इड़ा के साथ भी प्रसन्न नहीं रहे। उससे और उसकी प्रजा से भी लड़ते-झगड़ते हैं और जब वहाँ श्रद्धा और कुमार भी पहुँच जाते हैं तो फिर सनकी मनु सबको छोड़कर सहसा एक कन्दरा में भाग जाते हैं! जब वहाँ खोजती-खोजती श्रद्धा पहुँचती है तब उसको लेकर वह हिमालय पर चढ़ते हैं जहाँ श्रद्धा उन्हें रहस्य समझाती है। देवसृष्टि के अवशिष्ट व्यक्ति, एवं मनुष्य-सृष्टि के सृजनहार मनु इतने अनपढ़ और अनुभवहीन बताए गए हैं कि वह ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामंजस्य एवं समन्वय की आवश्यकता का पाठ भी 'कामायनी' के अन्तिम भाग में, पहले पहल श्रद्धा के मुख द्वारा ही सुनते हैं!

मनु का यथार्थ चरित्र-चित्रण कहीं भी नहीं मिल पाता और इड़ा तो बिलकुल गूँगी भोली-भाली प्रतीत होती है। कहीं भी 'तर्कजाल' की भाँति उसका चरित्र नहीं दिखाई पड़ता! श्रद्धा अपना भी काम करती है और बुद्धि का भी! जहाँ 'श्रद्धा' के चरित्र-चित्रण में अतिरञ्जना दिखाई पड़ती है वहाँ 'इड़ा' के चरित्र-चित्रण में अत्यंत अल्परंजना से काम लिया गया है।

रूपक की दृष्टि से भी, कहीं भी मनु, श्रद्धा और इड़ा दोनों को मिला कर नहीं रहे। पहिले श्रद्धा के साथ रहते हैं; वहाँ इड़ा नहीं है। फिर, इड़ा के साथ रहते हैं, वहाँ श्रद्धा नहीं है; और जब थोड़ी देर के लिए श्रद्धा वहाँ आ जाती है तो मनु भाग जाते हैं! श्रद्धा और इड़ा के सहयोग से आनन्द की प्राप्ति का साधन 'कामायनी'

में कहीं भी नहीं बताया गया। न दोनों के सहयोग से मानवता का विकास ही दिखाया गया है। 'आनन्द' सर्ग में भी इड़ा एक मूर्ति की तरह ही बैठी रहती है! 'कामायनी' पढ़ कर यह अन्त तक प्रतीत नहीं हो पाता कि मन के दोनों पक्ष—हृदय तथा बुद्धि—का, कहीं संघर्ष भी हो पाता है; अथवा दोनों के समन्वय से आनन्द ही मिल पाता है!

मनु के मनोविकारों को 'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', 'संघर्ष', 'निर्वेद' इत्यादि सर्गों में दिखाने का प्रयत्न किया गया है किन्तु कई तो अत्यन्त अस्वाभाविक हो गए हैं; और सबसे बड़ी बात यह है कि 'आनन्द' तक पहुँचते-पहुँचते कहीं भी ऐसे रस का उद्रेक नहीं हो पाता जिसके आधार पर हम कह सकें कि—

रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति

'कामायनी' में प्रबन्ध-पटुता अथवा प्रबन्ध-निर्वाह का अभाव है। प्रसंगानुकूल भाषा भी कुछ स्थलों पर ही मिल पाती है। कथा-काव्य के अवयवों का उचित समीकरण भी कहीं नहीं हो पाया है। हाँ, कहीं-कहीं विशृंखल भाव बड़े ही गंभीर हैं और प्रकृति का जहाँ-कहीं वर्णन आया है, अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक हुआ है। यदि प्रबंध-कल्पना एवं प्रबंध-निर्वाह पर ध्यान न दें, तो 'कामायनी' में यत्र-तत्र बिखरे गम्भीर भाव एवं प्रकृति-वर्णन अवश्य ही हमारे साहित्य की स्थायी निधि रहेंगे।

---

(२)

कामायनी में श्रद्धा और इड़ा

'कामायनी' के 'आमुख' में श्रद्धेय 'प्रसाद' जी ने लिखा है—

"जल-प्लावन भारतीय इतिहास में ऐसी प्राचीन घटना है जिसने मनु को, देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।.....यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसलिए 'मनु', 'श्रद्धा' 'इड़ा' अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

'कामायनी' में कथा यह है कि जल-प्लावन के अनन्तर, मनु ने श्रद्धा को पत्नी रूप में प्राप्त किया, फिर इड़ा की सहायता से सारस्वत प्रदेश की प्रजा का शासन किया। वहाँ प्रजा क्षुब्ध हो गई। संघर्ष में मनु हारे और श्रद्धा के साथ हिम-पर्वत पर वापिस आ गए और उसके अनन्तर श्रद्धा ने इच्छा, क्रिया, और ज्ञान के समन्वय का रहस्य मनु को समझाया।

पहले हम ऐतिहासिक दृष्टि से और तदनन्तर रूपक की दृष्टि से 'श्रद्धा', 'मनु' और 'इड़ा' का निवेचन करने का प्रयत्न करके 'कामायनी' की कथा के औचित्य पर विचार करेंगे।

हमारे शास्त्रों एवं प्राचीन पुराणों के अनुसार, एक सहस्र चतुर्युग में १४ मनु हुआ करते हैं। एक-एक मनु का काल 'मन्वन्तर' कहा जाता है। आजकल सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। प्रथम सात मनु के नाम इस प्रकार हैं:—(१) स्वायंभुव मनु (२) स्वरोचिष मनु (३) औत्तम मनु (४) तामस मनु (५) रैवत मनु (६) चाक्षुष मनु (७) वैवस्वत मनु। इनमें किसी 'मनु' की स्त्री का नाम 'श्रद्धा' नहीं था। वास्तव में जिस 'श्रद्धा' को प्रसादजी ने मनु-पत्नी दिखा दिया है, वह श्रुति के अनुसार महर्षि अत्रि की पत्नी थीं। प्रथम मनु (स्वायंभुव मनु) की कन्या 'देवहूति' थीं। देवहूति की पुत्री यही

'श्रद्धा' थी। 'अत्रि मुनि' को ब्याही गई थी। स्वायंभुव मनु अथवा श्रद्धा के काल में कोई स्त्री 'इड़ा' नाम की नहीं थी।

जल-प्लावन का काल वैवस्वत मनु के समय का है। 'प्रसाद'जी ने यह हाल 'शतपथ ब्राह्मण' से लिया है। उसके अनुसार जल-प्लावन शान्त हो जाने पर वैवस्वत मनु ने पाक यज्ञ का अनुष्ठान किया। घृत, नवनीत एवं आमिक्षा जल में छोड़ने से सम्वत्सर के मध्य एक कन्या उत्पन्न हुई। बालिका सुस्निग्ध जल से उठी थी। इसी का नाम 'इड़ा' (या इला) हुआ। मनु ने 'इड़ा' की सहायता से कठोर यज्ञ का अनुष्ठान किया।

तात्पर्य यह है कि 'इड़ा' वैवस्वत मनु की दुहिता थी और 'इड़ा' (बुद्धि) की सहायता से वैवस्वत मनु ने रचनात्मक योजनाएँ तैयार कीं।

जल-प्लावन का समय प्रथम ६ मन्वन्तरों में नहीं आ पाया था, इसलिए अन्य मनुओं को सृष्टि-रचना में, 'इड़ा' (बुद्धि) की आवश्यकता नहीं थी।

पुराणों में, प्रथम-मनु की कथा दूसरे ढंग से लिखी हुई है। पुराणों के अनुसार, स्वायंभुव मनु की स्त्री का नाम 'शतरूपा' था। उनके दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद थे और दो कन्याएँ 'आहूति' और 'प्रसूति' थीं। 'प्रसूति' का विवाह 'दक्ष' से हुआ। 'प्रसूति' के २४ कन्याएँ हुईं, जिनमें १३ को 'धर्म' ने पत्नी रूप में वरण किया। इनके नाम हैं—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति।

श्रद्धा ने काम को, लक्ष्मी ने दर्प को, धृति ने नियम को, तुष्टि ने संतोष को, पुष्टि ने लोभ को उत्पन्न किया। मेधा से श्रुति का, क्रिया से दण्ड का, नय एवं विनय का जन्म हुआ। बुद्धि ने बोध को, लज्जा ने विनय को, वपु ने व्यवसाय को, शान्ति ने क्षेम को, सिद्धि ने सुख को और कीर्ति ने यश को जन्म दिया।

स्वायंभुव मनु की यह वंश-परम्परा हमने मार्कण्डेय एवं पद्म पुराण से ही ली है। वेदों और पुराणों में तथ्य-कथन के अतिरिक्त रूपक कथन एवं अतिशयोक्ति कथन भी बहुत मिला करता है। इसीलिए उनके शब्दों के अर्थों पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से ऊहापोह करने की आवश्यकता होती है।

मनु-स्वायंभुव की दोहिती को वैवस्वत मनु की पत्नी दिखाकर 'कामायनी' के कवि ने वेदों एवं पुराणों के प्रति अन्याय किया है। पुराणों या वेदों की परम्परा में परिवर्त्तन करने की न तो आवश्यकता ही थी और न किसी कवि को ऐसा करना उचित ही है। फिर, 'श्रद्धा' का विवाह 'धर्म' के साथ तो समझ में आ भी जाता है, परन्तु श्रद्धा का विवाह आदि मानव या मनु के साथ किंचित् भी समझ में नहीं आ सकता।

वास्तव में, 'धर्म' के साथ 'श्रद्धा' का बहुत गहरा सम्बन्ध है। कहा भी गया है कि श्रद्धा ही परमधर्म है, श्रद्धा ही ज्ञान, यज्ञ, तप, होम स्वर्ग और मोक्ष है।

'गीता' में भगवान कहते हैं—कि अश्रद्धा के साथ यज्ञ, दान, तप जो कुछ भी किया जाय वह नितान्त साधु-विगर्हित कार्य है। उससे न तो इस लोक का और न परलोक का फल मिल सकता है।

श्रद्धा का लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति से भी निकटतम सम्बन्ध है और इन सबका धर्म के साथ भी निकट सम्बन्ध है।

किन्तु धर्माचरण के लिए श्रद्धा (धर्मकार्यादि में दृढ़ प्रत्यय एवं गुरु और शास्त्र वाक्यों में अटूट विश्वास होना) सबसे अधिक आवश्यक है। इसीलिए लिखा गया है कि शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा एवं मुमुक्षुत्व—इन समग्र गुणों के उदय होने पर ही मनुष्य वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है।

जैन धर्म में भी मुक्ति के साधनों में ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र और भावना की आवश्यकता बताई है।

जब तक शास्त्र-वाक्यों में दृढ़ विश्वास न हो तब तक धर्म का प्रारम्भ कैसे किया जा सकता है ? इसीलिए धर्म और श्रद्धा का अटूट सम्बन्ध माना जाता है। केवल उन लोगों के लिए जो आस्तिक और धार्मिक हैं, मानव और धर्म का सम्बन्ध भी आवश्यक हो सकता है। किन्तु मानव का और श्रद्धा का, अथवा मन का और श्रद्धा का, अटूट सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

ऐतिहासिक दृष्टि से, अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी 'श्रद्धा' को 'कामायनी' में अत्यधिक महत्व दिया जाना उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्भवत: 'प्रसाद' जी ने 'श्रद्धा' का अर्थ न तो 'चित्त की प्रसन्नता' और न 'शास्त्र-वाक्यों में अटूट विश्वास' किया है। 'कामायनी' पढ़ने पर पता चलता है कि श्रद्धा को 'अनुराग' अथवा भक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

शाण्डिल्य-सूत्र का यह मत यहाँ सहसा याद आ जाता है कि 'नैव श्रद्धा तु साधारणत्वात्' (भक्ति और श्रद्धा एक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा का साधारणत्व दिखलाई पड़ता है।)

'कर्म में श्रद्धा' 'उपासना में श्रद्धा' 'वाक्य में श्रद्धा' इत्यादि प्रकार से 'श्रद्धा' का साधारणत्व नजर आ जाता है। किन्तु भक्ति तो भगवान् में ही हुआ करती है।

अतएव मनु को यदि आदि मानव रूप में लें तो 'श्रद्धा' उसके हृदय का प्रतीक नहीं हो सकती; और यदि मनु को मननशील के अर्थ में लें तो भी 'श्रद्धा' उसके भाव-पक्ष का पर्याय नहीं हो सकती।

श्रद्धा के मुकाबिले में 'इड़ा' (बुद्धि) का महत्व आदि मानव, सृष्टि सृजनहार एवं मन के लिए अत्यधिक है। 'बुद्धि' वह शक्ति है जिसके अनुसार मनुष्य किसी उपस्थित विषय के सम्बन्ध में ठीक-ठीक विचार या निर्णय कर सकता है। इसीलिए इसको 'निश्चयात्मिका अन्त:करण वृत्ति' कहा गया है।

प्रकृति का प्रथम विकास बुद्धि तत्त्व है। सत्वगुण सर्वप्रथम बुद्धि तत्त्व रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। बहुत निर्मल होने के कारण इसे महत्तत्व भी कहते हैं। बुद्धि केवल तर्कजाल अथवा शुष्कज्ञान नहीं है। गीता में सात्विकी, राजसी, एवं तामसी तीन प्रकार की बुद्धि का उल्लेख है। जिसके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्षादि जाना जा सके उसे सात्विकी बुद्धि कहते हैं, जिसके द्वारा धर्म-अधर्म का अथवा कार्य-अकार्य का यथार्थ निर्णय होता है, वह 'राजसी बुद्धि' बताई गई है और जो बुद्धि सब बातों में उल्टी समझ पैदा कर देती है वह 'तामसी बुद्धि' है। 'कामायनी' में 'इड़ा' का जो रूप दिखाया गया है, वह इन तीनों के परे प्रतीत होता है।

वास्तव में, बुद्धि-तत्त्व ही जगत का मूल है। जिस प्रकार नींद टूटने पर आँख खुलते-खुलते सहसा अज्ञानतम का अस्त और ज्ञान का उदय होता है, उसी प्रकार प्रलय होने के अनन्तर जब जगत अपनी सुषुप्तावस्था से उठा करता है तभी महत्तत्व या बुद्धि का विकास हुआ करता है। प्रलय के अनन्तर मनु का इड़ा (बुद्धि) की सहायता से सृष्टि की रचना एवं उस सृजनहार का रहस्य प्राप्त करना समझ में आ सकता है। किन्तु बुद्धि को एक कोने में बैठा कर 'श्रद्धा' द्वारा जगत का रहस्य समझा देना—कामायनी महाकाव्य की बड़ी भूल ही कही जायगी।

हमारे शास्त्रों में बुद्धि का एक विराट रूप दिखाया गया है। निद्रा, वृत्ति, व्यवसाय, चित्तस्थैर्य, संशय और प्रतिपत्ति एक दृष्टि से, बुद्धि के ये पाँच गुण हैं। दूसरी दृष्टि से शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, उपोह और अर्थ-विज्ञान, ये सात गुण हैं।

इनके अतिरिक्त बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ बनाई गई हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। 'नित्या' और 'अनित्या' रूपों को छोड़कर नैयायिकों ने बुद्धि के दो भेद और बताए हैं, जिन्हें 'अनुभूति' और 'स्मृति' कहते हैं।

प्राचीन शास्त्रों में दिखाए गए 'बुद्धि' के विराट रूप के आधार पर महाकाव्य का बड़ा सुन्दर भवन निर्माण किया जा सकता था। किन्तु यह सब छोड़कर बुद्धि का एक अत्यन्त संकुचित रूप ही लिया जाकर 'कामायनी' की 'इड़ा' महत्वहीन बना दी गई है।

सत्रह अवयवों से हमारे यहाँ सूक्ष्म शरीर की रचना भी बताई जाती है। सत्रह अवयवों में ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ वायु के अतिरिक्त, दो महत्वपूर्ण अवयव मन और बुद्धि ही हैं।

यदि मनु को मननशील के अर्थ में लें, तो मन और बुद्धि का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। मन जहाँ संकल्प और विकल्पादि की अन्तःकरण वृत्ति विशेष है, वहाँ बुद्धि निश्चयात्मिका अन्तःकरण वृति है। सांख्य में, महत्तत्व से ही मन की उत्पत्ति बताई गई है। इसलिए मन और बुद्धि का अटूट सम्बन्ध बताया गया है। मन कहाँ अवस्थित है? इस पर शास्त्रकारों में विभिन्न मत देखे जाते हैं। कोई दोनों भ्रू के बीच में और कोई 'आज्ञा-चक्र' में बताते हैं, इसका कारण यह बताया जाता है कि मन जब चिन्ता-कार्य में प्रवृत्त रहता है, तब मस्तक का तमाम स्नायु-मंडल स्पन्दित होने लगता है और आँख, मुँह भ्रू के विशेष स्थान विशेष रूप से कुञ्चित और विकृत हो जाते हैं।

दूसरे मत वाले कहते हैं मन का स्थान मस्तक न होकर हृदय है। हृदय के भीतर जो अपूराकार मांसखंड 'हृद् पद्म' कहलाता है, उसी मांस-खंड के उदराकाश में ही मन की वासना भूमि है। ध्येय वस्तु हृदयाकाश में प्रतिबिम्बित होती रहती हैं, क्योंकि मनुष्य जो ध्यान व चिन्ता करता है वह हृदय में रखकर ही करता है। इस कारण मन का स्थान हृदय भी बताया गया है।

मनु को मननशील अथवा मन के अर्थ में लेकर, मनु और इड़ा—मन और बुद्धि का सम्बन्ध दिखाकर महाकाव्य की रचना यदि की जाती तो एक नितान्त मौलिक कल्पना होते हुए भी मनो-

वैज्ञानिक दृष्टि से भी वह सर्वश्रेष्ठ रचना होती। किन्तु 'मनु' और 'इड़ा' का महत्व भूलकर 'मनु' और 'श्रद्धा' का ही महत्व दिखाना न तो ऐतिहासिक दृष्टि से और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही उचित कहा जा सकता है।

मन अन्नमय अर्थात् खाद्य द्रव्य का परिणाम विशेष भी बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में गुरु उद्दालक और शिष्य श्वेतकेतु की बड़ी सुन्दर आख्यायिका दी गई है। उसका आशय यह है कि आहार के अभाव में मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ सभी क्षीण हो जातीं हैं। अन्न मिलने पर, मस्तिष्क में सभी विषयों का फिर उदय होकर मन और बुद्धि ठीक-ठीक काम करने लगते हैं। स्मरण-शक्ति भी आने लगती है।

कार्ल मार्क्स इसी को इस प्रकार कहता है कि भौतिक तत्व की उपज ही मन है। इस प्रकार मनु के पाक यज्ञ द्वारा घृत नवनीत से उत्पन्न इड़ा (बुद्धि) का रहस्य समझ में आ जाता है।

अन्न न मिलने पर, धर्म में श्रद्धा भले ही बनी रहे, मन और बुद्धि का ह्रास होने लगता है। इसीलिए श्रद्धा को एक ओर हटाकर मन और बुद्धि का अटूट सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है।

मन और बुद्धि के अमर मानसिक तत्वों को मंगल-सूत्र में पिरोने के स्थान में 'कामायनी' में बुरी तरह उलझा दिया गया है।

---

(३)

रूप, यौवन एवं प्रणय के वर्णन में अथवा प्रकृति के चित्रण में, आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'प्रसाद' जी अद्वितीय हैं। 'कामायनी' में कथा-वस्तु, प्रबन्धत्व एवं चरित्र-चित्रण को अलग हटाकर यदि इन्हीं वर्णनों पर एक दृष्टि डाली जाय तो यहाँ अवश्य मादकता की कमी नहीं मिलेगी।

'श्रद्धा' के सौन्दर्य का निम्नलिखित वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक है:—

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।
हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु-साल
सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अध खुला अङ्ग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रङ्ग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास;
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास
और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्त्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्त्ति

उषा की पहिली लेखा कांत,
माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिंब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध !

'श्रद्धा' का शरीर लम्बा और विशाल बताया गया है। हवा से झूमते हुए नवीन शाल वृक्ष के समान वह सुन्दर और सुगन्ध युक्त है। सन्ध्या काल में घिरे हुए काले बादलों के बीच अस्त होते हुए

सुन्दर सूर्य के लाल प्रकाश के समान उसका मुख चमक रहा था। मानो नीलम के पहाड़ की चोटी पर भीतर से फूटकर ज्वालामुखी की सुन्दर लौ वसन्त की रात में अश्रान्त होकर धधक रही थी !!

उसके घुँघराले बाल कंधे तक लटक रहे थे और मुख पर इस प्रकार छहरा रहे थे मानो सुन्दर और नीले मेघ-शिशु चन्द्रमा के पास अमृत पान करने आए हों। लाल-लाल कोंपल पर बाल सूर्य की एक चमकीली किरण के मृदु-मन्द विहार-सरीखी उसकी मुसकान थी। चिरस्थायी यौवन के सौन्दर्य से युक्त, करुणा की कमनीय मूर्त्ति—जैसी मुसक्यान अपने मधुर स्पर्श द्वारा जड़ में स्फूर्त्ति प्रकट करती थी। यह मुसक्यान प्रभात कालीन तारों की गोद में प्रकटित प्रथम ऊषा की किरण के समान सलज्ज, माधुरी से भींगी हुई और मद से भरी हुई थी। उस मुख पर वह सुन्दर मुस्कराहट ऐसी थी मानो किसी कुसुम-कानन के अंचल में—पुष्प वाटिका में—मन्द पवन द्वारा लाया हुआ सौरभ साकार होकर मकरन्द का आधार लेकर, परागप-रमाणुओं द्वारा रचित शरीर धारण कर खड़ा हुआ था; और वासन्ती पूर्णिमा की शुभ्र चाँदी मानों उस पर पड़ कर मन को उमङ्ग से भर रही थी। श्रद्धा के मुख पर, हँसी का यह मद विह्वल प्रतिबिंब, मधुर शरारत सदृश उन्मुक्त था।

लयपूर्ण भाषा में कल्पना की ऐसी ऊँची उड़ान अथवा अभिव्यक्ति अन्यत्र मिलना कठिन है।

इसी भाँति, कर्म सर्ग में श्रद्धा और मनु का प्रणय-वर्णन भी मनमोहक है:—

खुले मसृण भुज-मूलों से
वह आमंत्रण था मिलता,
उन्नत वक्षों में आलिंगन
सुख लहरों सा तिरता ॥
जागृत था सौंदर्य यदपि वह
सोती थी सुकुमारी

रूप-चंद्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा सी नारी ॥
वे मांसल परमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते,
अलकों की डोरी में जीवन
कण कण उलझे जाते ॥
विगत विचारों के श्रम सीकर
बने हुए थे मोती
मुख मंडल पर करुण कल्पना
उनको रही पिरोती ॥
छूते थे मनु और कंटकित
होती थी वह बेली
स्वस्थ व्यथा की लहरों सी
जो अंग लता थी फैली ॥
जलदागम मारुत से कम्पित
पल्लव सदृश हथेली
श्रद्धा की, धीरे से, मनु ने,
अपने कर में ले ली ॥
अनुनय वाणी में, आँखों में
उपालंभ की छाया,
कहने लगे "अरे यह कैसी
मानवती की माया"

'इड़ा' सर्ग में कामायनी का भाषा-सौष्ठव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है। प्रातःकाल के वर्णन के साथ 'इड़ा' का शारीरिक वर्णन रोचक एवं पठनीय है। सुनहरे मंडल के भीतर सूर्य की उपमा, पराग से भरे खिले हुए कमल के फूल से दी गई है। प्रकाश की किरणों से बुने हुए ऊषा के आँचल में जब प्रभात वायु मचल

रही थी उसी समय सुन्दर बालिका 'इड़ा' वहाँ उपस्थित हुई। कवि कहता है कि एक सुन्दर चित्रपट पर एक सुन्दर चित्र खिंच गया। वह बाला नयनों के महोत्सव की प्रतीक, ताज़े कमल फूलों की नव-मालिका थी। उसका मुख मंडल सौन्दर्य की खान था। उसे देखकर जीवन का अन्धकार और वैराग्य लुप्त हो गया। उसकी मुसकान चारों ओर सौन्दर्य बिखेर रही थी।

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में, एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो, श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल में आन्दोलन अमन्द
करता प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरन्द
उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुखमा का मंडल सुस्मित सा बिखराता संसृति पर सुराग
सोया जीवन का तम-विराग।

'इड़ा' की अलकें तर्क-जाल सी बिखरी हुई थीं। उसका भाल, विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम अर्ध चन्द्र था। दोनों आँखें कमलपत्र की दो कटोरियों के सदृश थीं जिनसे अनुराग और विराग उँडेला जा रहा था। भ्रमरों से गुंजरित कली के सदृश उसका गान-भरा मुख था; वक्षस्थल पर संसार के समस्त ज्ञान और विज्ञान वह धारण किए हुए थी। एक हाथ में कर्म-कलश था जिसमें जीवन रस का सार भरा था। दूसरे हाथ से विचारों के आकाश को निर्भय होकर थामे थी और चरणों में ताल से भरी गति थी।

ब्रजभाषा की परम्परा में पले हुए कवि प्रसाद 'पजनेस' के 'नीवी तट त्रिबली' 'बली पै द्युति कोसतुंड' के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए और इसीलिये 'इड़ा' की नाभि के ऊपर की तीन रेखाओं की उपमा सत्व, रज, तम तीन गुणों की तरंगों से दे डाली जिसके ऊपर का लहरिया का लहरदार वस्त्र प्रकाश का आवरण

था। 'इड़ा' का यह वर्णन, गीति-काव्य की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। लिखा है:—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश, वसुधा जीवन रस सार लिए
दूसरा विचारों के नभ को था, मधुर अभय अवलंब दिए
त्रिबली थी त्रिगुण तरंग मयी, आलोक बसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल

'इड़ा' सर्ग कथावस्तु से प्रायः शून्य है। किन्तु इस सर्ग के गेय पदों में कवि ने अन्तर्वाही शैली (Subjective style) अपना कर, मानव हृदय की अन्तरतम भावनाओं का सुन्दर परिचय दिया है। आधुनिक गीति-काव्य में 'कामायनी' का 'इड़ा' सर्ग बेजोड़ है।

'इड़ा' सर्ग के अनन्तर 'स्वप्न' सर्ग में विरह से व्याकुल 'श्रद्धा' का भी वर्णन कम रोचक नहीं है। कामायनी उस फूल के समान पड़ी हुई बताई गई है जिसमें मकरन्द नहीं रह गया था; वह उस रेखाओं के चित्र की तरह थी जिसका रंग फीका हो गया था। वह प्रभात के निस्तेज शशि सी प्रतीत होती थी जिसमें चाँदनी तो क्या एक किरण भी नहीं रही थी अथवा उस सन्ध्या के समान थी जिसमें सूर्य, चन्द्र तारे—कुछ भी नहीं थे। उस सरोवर के समान थी जिसमें लाल, नीले और श्वेत वर्ण के कमल अपनी नालों पर मुरझा चुके थे और जिन पर मधुप नहीं आ रहे थे; अथवा उस जलधर (बादल) के समान थी जिसमें न तो बिजली चमकती है और न श्यामलता है। या यों कहें कि कामायनी शिशिर ऋतु का क्षीण स्रोत थी जो बर्फ़ बनकर ठंडी पड़ चुकी थी। श्रद्धा, एकान्त की मौन वेदना प्रतीत होती थी जिसमें झिल्ली की झनकार नहीं

थी। संसार की वह अस्पष्ट उपेक्षा थी अथवा 'कसक' मूर्त्ति बन कर खड़ी थी। हरे-भरे कुंज की वह एकमात्र छाया सी रह गई थी; अथवा छोटी-सी बिरह-नदी बन गई थी जिसका अन्त नहीं हो रहा था। कवि के ही शब्दों में—

"कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ।
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ॥"
जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाए,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आए।
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाए॥
एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही।
हरित कुंज की छाया भर थी, वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।

भाषा, भाव एवं शैली की प्रौढ़ता में कामायनी' के ये वर्णन अद्वितीय हैं। किन्तु ऐसे वर्णन सारी पुस्तक में नहीं मिलते।

कहीं अत्यन्त सरस एवं रोचक वर्णन हैं तो कहीं अस्पष्ट भाषा ने नीरसता भी चरम सीमा पर पहुँचा दी है। 'निर्वेद' सर्ग में, युद्ध के अनन्तर, क्षुब्ध एवं मौन सारस्वत नगर का वर्णन करते हुए कवि लिखता हैं—

निशिचारी भीषण विचार के पंख भर रहे सर्राटे।
सरस्वती थी चली जा रही, खींच रही सी सन्नाटे॥

प्रतीत यह होता है कि सारस्वत नगर निवासियों के मस्तिष्क का ऊपरी भाग 'किराये के लिये' खाली था; जिस पर भीषण

विचार के निशाचरों ने अपना अधिकार कर लिया था और उसमें वे अपने पंख फड़फड़ा रहे थे !! जिसको देखकर सरस्वती नदी सन्नाटे खींच कर चलती जा रही थी !! 'सर्राटे' और 'सन्नाटे' की तुक के सिवाय यहाँ कोई भाव नहीं है।

इसी प्रकार 'संघर्ष' सर्ग में

मायाविनि, बस पा ली तुमने ऐसी छुट्टी।
लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी॥

'खुट्टी' ग्रामीण भाषा का भद्दा प्रयोग है, इसी प्रकार—

तब सरस्वती सा फेंक साँस
श्रद्धा ने देखा आस पास

अथवा—

उलझन की मीठी रोक टोक
यह सब उसकी है नोक झोंक।

अथवा—

प्रिय अब तक हो इतने सशंक,
देकर कुछ कोई नहीं रंक।
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक,
दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक॥

भाषा प्रवाह को बिगाड़ रहे हैं। जहाँ प्रकृति वर्णन या रूप वर्णन अथवा मनोवेग चित्रण नहीं है वहाँ प्रसाद की लेखनी डगमगाने लगती है।

दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

आह स्वर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए विलीन हुए
भक्षक या रक्षक जो समझो
केवल अपने मीन हुए।

यहाँ केवल 'अपने मीन' हुए का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। इसी प्रकार—

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह
गतिहीन पंगु सा पड़ा पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा टीह

अन्तिम पंक्ति, तुकबन्दी के लिए है जो निरर्थक एवं भद्दी है।

कहीं कहीं प्राकृतिक ऐश्वर्य के वर्णन में अन्त्यानुप्रास (पाद-पूर्ति) की लहर में वर्णन की भाषा बिलकुल बिगड़ गई है। 'वासना' सर्ग में एक स्थान पर यौवन मुग्धा प्रकृति का नीला अंचल ढीला होने पर टिमटिमाते तारों को मंगल खील बिखेरना सा बताया गया है। लिखा है—

राशि राशि नखत कुसुम की, अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है ताम-रस सुन्दर चरण के प्रान्त।

'चरण के प्रान्त' केवल 'अर्चना अश्रान्त' की तुक मिलाने के लिए रखा गया है जिससे भाषा-सौष्ठव पर आघात हो रहा है।

मनु इस चाँदनी के सौन्दर्य को अपलक निहारते रहे। आकाश से निरन्तर मदिर कण की वृष्टि हो रही थी। इस का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

मनु निरखने लगे ज्यों ज्यों यामिनी का रूप
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया, फैलती अपरूप,
बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ ततत अनन्त
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।

"संगीत श्रीमन्त होने लगा था" का क्या अर्थ है? व्याप्त होने लगा था या सुनाई देने लगा था या गूँजने लगा था? 'अनन्त' की तुक मिलाने के लिए 'श्रीमन्त' लाया गया है जो भाव को ठीक व्यक्त नहीं कर रहा।

कवि का ध्यान 'लिंग विचार' पर भी नहीं था--

तुहिन कणों, फेनिल लहरों में
मच जावेगी फिर अंधेर।

में 'अन्धेर' को स्त्रीलिंग बना डाला है।

'श्रद्धा' सर्ग में कामायनी कहती है—

अकेले तुम कैसे असहाय
भजन कर सकते ? तुच्छ विचार,
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलम्ब
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना बिलंब ?

नारी के मुख से यह कहलाना कि "तुम्हारा सहचर बनकर मैं उऋण होना चाहता हूँ"—व्याकरण की बिलकुल उपेक्षा करना है।

'एक वचन' अथवा 'बहुवचन' के भेद पर भी कवि ने ठीक-ठीक ध्यान नहीं दिया—

यथा—

अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जयनाद
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बन कर मानों दीन विषाद

यहाँ या तो 'पुतले' होना चाहिए या 'तुम्हारे'—

रस-अनौचित्य भी यत्र तत्र दिखाई पड़ता है। वासना की पिपासा में शरीर की क्षणभंगुरता पर प्रेमी और प्रेमिका का ध्यान कब जाता है ? 'कर्म' सर्ग में, केलि के समय, मनु और श्रद्धा का सम्वाद रस-अनौचित्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस संवाद के अनन्तर, मनु और श्रद्धा की रतिक्रिया का संकेत कुशल कवि ने 'व्याकुल चुम्बन' के दृश्य के अनन्तर यह लिख कर किया है कि—

दो काठों की सन्धि बीच उस
निभृत गुफा में अपने
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने
पर जैसे सुख सपने

यहाँ 'अपने' शब्द अशुद्ध है; केवल तुकपूर्ति के लिए लाया गया है। 'अपनी' होना चाहिए।

'काम' सर्ग में एक स्थान पर मनु कह रहे हैं—

आकाश रंध्र हैं पूरित से
यह सृष्टि गहन सी होती है
आलोक सभी मूर्च्छित सोते
यह आँख थकी सी रोती है

भाषा बिलकुल अस्पष्ट है। सृष्टि 'गहन' सी होती है? क्या रहस्यमयी होने से मतलब है? या 'गहरी' होने से? आलोक—(प्रकाश के मानपिंडों का) मूर्छित सोना क्या है? आँख थक गई है या थकी सी हो गई है? और, रोती क्यों है?

संभवतः रहस्यमय सौंदर्य के नशे के कारण आलोक बेसुध हो रहे थे और कवि का भाव यह है कि आँखें उस सौंदर्य का पान करके तृप्त नहीं हो रही थीं और उनकी व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। किन्तु, भाषा स्वयं यहाँ रहस्यमयी हो गई है।

इसी के अनन्तर लिखा गया कि :—

सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ
बन कर रहस्य हैं नाच रहीं;
मेरी आँखों को रोक वहां
आगे बढ़ने में जाँच रहीं

अन्तिम दोनों पंक्तियाँ निरर्थक सी प्रतीत हो रही हैं। आँखों को वहीं रोक कर, आगे बढ़ने से कैसे जाँच रही होंगी? शायद रहस्य का पर्दा फाड़ कर आगे जाने में असमर्थता अनुभव कर रही थीं!! आगे का छन्द है :—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह सब क्या छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस पर्दे में
क्या अन्य धरा कोई धन है?

सौंदर्य की यवनिका के पीछे "धन" कहाँ से आया होगा? "अन्य धरा कोई धन है" नीरस तुकपूर्ति है।

एक स्थान पर लिखा है—

श्रुतियों में चुपके चुपके से
कोई मधुधारा घोल रहा
इस नीरवता के पर्दे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा

'कानों' के स्थान में 'श्रुतियों' का प्रयोग आधुनिक हिन्दी में खटकता है। आज अपौरुषेय शास्त्रों को ही हम 'श्रुतियाँ' कहते हैं।

एक दूसरे स्थान पर लिखा है—

था व्यक्ति सोचता आलस में
चेतना सजग रहती दुहरी
कानों के कान खोल करके
सुनती थी कोई ध्वनि गहरी

लक्षणा शक्ति कितनी ऊँची पहुँची है? जब मनु का मन तन्द्रा में मस्त था उस समय उनकी चेतना दुगने तेज से सजग हो रही थी। उसने कानों के कान खोलकर गंभीर ध्वनि सुनी!!

प्रथम तो चेतना के कान; फिर उन कानों के कान!! कल्पना की उड़ान ही तो है!! कानों के कान खोलकर सुनना; आँखों को

आँख खोलकर देखना और नाकों की नाक खोल कर सूँघना !! कितने सुन्दर प्रयोग हैं ?

एक अन्य स्थान पर मनु कहते हैं—

यह छल चलने में अब पंगु हुआ सा समझो
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो

'छल चलने में लँगड़ा हुआ सा समझो"—कितनी अच्छी उक्ति है ? बेचारी 'लज्जा' की टाँग तोड़ दी है।

इसी के अनन्तर, 'संघर्ष' सर्ग के सुन्दर भाषा-प्रवाह में मनु कहते हैं :—

"देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रन्दन !
किन्तु आज तुम बदी हो मेरी बाहों में
मेरी छाती में," फिर सब डूबा आहों में !

किसकी आहों में सब डूब गया ? यह स्पष्ट नहीं किया ! सुन्दर भाषा-प्रवाह कवि की आहों में ही डूबा प्रतीत हो रहा है !! यह भी प्रतीत होता है कि मनु ने 'इड़ा' को अपनी बाहों में कस लिया और छाती से लगाने लगे। मनु से यह कहलाना उचित था कि 'तुम मेरी बाहों में बन्दी हो' ; किन्तु 'छाती में बन्दी' से तात्पर्य हृदय में बन्दी होने से है जो कवि का यहाँ भाव नहीं है।

'काम' सर्ग के अन्त में मनु की तन्द्रा के स्वप्न जब भंग हुए तो उन्होंने देखा कि सुन्दर प्राची में अरुणोदय का रस-रङ्ग हो रहा है। उस समय कवि ने यह लिखकर 'काम' सर्ग समाप्त किया है कि—

उस लता कुंज की झिलमिल से
हेमाभिरश्मि थी खेल रही
देवों के सोम सुधा रस की
मनु के हाथों में बेल रही

प्रथम दो पंक्तियों में लताकुञ्ज की झिलमिल करती काँपती छाया के साथ प्रातःकाल की सुनहली किरणों की क्रीड़ा का बड़ा हृदयग्राही वर्णन है। उस वर्णन के साथ अन्तिम दो पंक्तियाँ बिलकुल नीरस प्रतीत होती हैं। 'खेल' के साथ 'बेल' की तुकबन्दी के सिवाय यहाँ और कोई भाव भी नहीं है। ऊषा काल में सोमपान कौन करता होगा? और ऊषाकाल में मनु सोमलता की जड़ी बूटी हाथ में लिए क्यों बैठे होंगे? यदि देवों के सोमपान को मनु द्वारा आगे बढ़ाते रहने का संकेत है तो शब्द 'बेल' निरर्थक है।

'निर्वेद' सर्ग में मनु और श्रद्धा के सम्वाद की भाषा ही बिगड़ रही है। मनु श्रद्धा से कहते हैं :—

हाथ पकड़ ले, चल सकता हूँ
हाँ कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन? परे हट, श्रद्धे!
आ कि हृदय का कुसुम खिले"

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
आँखों में विश्वास भरे
मानों कहती "तुम मेरे हो
अब कोई क्यों वृथा डरे?"

प्रथम छन्द में मनु श्रद्धा के हाथों का सहारा चाहते हैं; किन्तु फिर "वह तू कौन? परे हट, श्रद्धे" कहकर यह बोध कराते हैं कि मनु को होश नहीं रहा था। बीच बीच में बड़बड़ा रहे थे। छन्द में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे यह पता चलता हो कि मनु श्रद्धा से नहीं बल्कि 'इड़ा' से यह कहते थे कि 'तू दूर हट जा'। इस प्रकार 'आ कि हृदय का कुसुम खिले' निरर्थक हो जाता है। दूसरे छन्द में 'नीरव' शब्द देखने योग्य है। 'नीरव सिर' कैसा होता है? शायद श्रद्धा का नीरव भाव से सिर सहलाने से यहाँ तात्पर्य है किन्तु भाषा दूसरी ओर चल रही है! अन्तिम पंक्ति भी

बिलकुल नीरस तुकबन्दी है। किसी व्यक्ति के वृथा डरने से यहाँ प्रयोजन क्या हो सकता है ?

'कामायनी' में कई साधारण शब्दों के अशुद्ध प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। 'रहस्य' सर्ग में मनु कहते हैं :—

लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा;
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा

'लड़ना' और 'अड़ना' यहाँ चिन्त्य प्रयोग हैं। आँधी के सामने 'डटे' रहने से प्रयोजन है जिसके लिए 'अड़ न सकूँगा' लिखना अशुद्ध है।

दुर्बल, बीमार, थके हुए मनु आगे चलने में अपने को असमर्थ समझ रहे हैं और वापस लौट चलने को कह रहे हैं किन्तु श्रद्धा के मुख से मनु को कुछ अजीब भाषा में यह कहलाया जाता है :—

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली
"हम बढ़ दूर निकल आए अब
करने का अवसर न ठिठोली"

यहाँ 'ठिठोली' शब्द ग्रामीण भी है और अनुचित भी है। थके मनु गम्भीर थे और मजाक का कोई मौका भी तो यहाँ नहीं था।

श्रद्धा आगे कहती है—

श्रान्त पक्ष, कर नेत्र बन्द बस
विहग युगल से आज हम रहें;
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जम रहें

"ऐसे विहग युगल से आज हम रहें जिनके पङ्ख थक गए हैं और जिन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिए हैं" यह अर्थ तो ठीक है किन्तु 'शून्य' शब्द यहाँ बिलकुल शून्य हो रहा है। यदि 'आकाश'

से तात्पर्य लें तो आकाश और पवन पंख कैसे बन सकते हैं ? पंख उड़ने को होते हैं ; जमने को नहीं अन्तिम पंक्तियों का कुछ अर्थ नहीं होता !

'जकड़ना' शब्द कसकर बाँधना अथवा गतिहीन करने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है किन्तु 'निर्वेद' सर्ग में लिखा है :—

नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर उँगली पकड़े;
चला आ रहा मौन धैर्य सा
अपनी माता को जकड़े

यहाँ 'जकड़े' शब्द अशुद्ध है। संभवतः माता से लिपटे हुए चले आने का मतलब है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है :—

वे अम्लान कुसुम सुरभित
मणि रचित मनोहर मालाएँ
बनी शृंखला, जकड़ी जिनमें
विलासिनी सुर बालाएँ

यहाँ 'जकड़ी' 'लिप्त' होने के भाव में आया है जो भद्दा एवं चिन्त्य प्रयोग है।

'ईर्ष्या' सर्ग में लिखा है—

मृग डाल दिया फिर धनु को भी
मनु बैठ गए शिथलित शरीर

'शिथिल' को 'शिथलित' बना दिया गया है। 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा मनु से कहती है—

मनु क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हन्त ! बची क्या शवता !

तुम्हारी मानवता में क्या सब कुछ ले लेना ही है ? क्या 'शवता' ही बची है ? यहाँ 'शव' से 'शवता' बना डाला गया है; यह एक दूषित प्रयोग है। कवि का भाव यह है कि क्या नव मानवता में स्वार्थ साधन ही ध्येय है और जीवों की हत्या करना ही कर्त्तव्य रह गया है। मगर भाषा अलग चल रही है !!

आगे श्रद्धा कहती है—

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें;
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुल कर तो ये मर लें

यहाँ 'मर लें' हास्यास्पद एवं नीरस तुकबन्दी है। भाव यह है कि यह मुदी हुई कलियाँ यदि पत्तियों के भीतर सब सौरभ बन्द कर लें और फिर खुलकर यदि मकरन्द से रसार्द्र न होंगी तो यह नष्ट हो जायँगी। भाषा भाव को व्यक्त नहीं कर रही है।

एक आलोचक ने लिखा है कि 'कामायनी' में हिन्दी के चलते प्रयोग और मुहावरे सारे ग्रंथ में बिखरे पड़े हैं।

मुहावरों का सफल प्रयोग कविता में करना कुछ कठिन है। अवश्य मुहावरों में थोड़े शब्दों में बहुत बातें होती हैं और वे कई मानसिक भावों की सूचक होती हैं। मौलाना हाली ने लिखा था कि "मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जावे तो बिला शुबह पस्त शेर को बलन्द और बलन्द को बलन्दतर कर देता है।" किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि उन्हीं मुहावरों से भाषा में स्फूर्ति एवं जीवन आ सकता है जिनके द्वारा व्यञ्जना का सबसे अधिक विकास होता हो। ध्वनिमूलक व्यञ्जना ही अधिकतर मुहावरों का आधार बताई गई है—अतः व्यञ्जना शक्ति के लिए ही कविता में मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। जहाँ केवल साधारण वर्णन (अभिधा) ही ध्येय हो वहाँ मुहाविरों का प्रयोग कविता को सुन्दर बनाने के स्थान में बिगाड़ ही देता है।

जैसे "लोहू का घूँट पीना" एक मुहाविरा है जिसका अर्थ है "विपत्तिकाल में जिसने दुख दिया हो उससे असमर्थ होने के कारण बदला न लेकर मन मार कर बैठे रहना और दुःख सहते रहना"। यह छोटा-सा मुहावरा नाना मानसिक भावों की सूचना देता है।

'कामायनी' में इसी मुहावरे को अत्यन्त साधारण तौर से प्रयोग किया गया है। मनु के मृग को आकुलि और किलात मार कर खाना चाहते थे। उस समय आकुलि कहता है—

"क्यों किलात! खाते खाते तृण
और कहाँ तक जीऊँ;
कब तक मैं देखूँ जीवित पशु
घूँट लहू का पीऊँ"

यहाँ मुहाविरे की मिट्टी खराब हो रही है। इसी प्रकार एक दूसरे मुहाविरे "चैन की वंशी बजाने" की दुर्दशा हुई है। वही आकुलि कहता है:—

क्या कोई इसका उपाय ही
नहीं कि इसको खाऊँ?
बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ

'चैन की वंशी बजाने' में वर्षों तक आराम करने का भाव निहित है। केवल एक बार मांस भक्षण करके वर्षों तक आराम तो कैसे हो सकता है?

'तिल का ताड़ बनाना' एक अन्य मुहावरा है जिसका अर्थ छोटी बातों को बढ़ा-बढ़ा कर बताना है। 'तिल का ताड़' अपने आप नहीं बनता है; तिलका ताड़ बनाया जाता है। परन्तु 'कामायनी में लिखा है—

श्रद्धा के उत्साह वचन, फिर
काम प्रेरणा मिल के

भ्रान्त अर्थ बन आगे आए
बने ताड़ थे तिल के

यहाँ भूले भटके अर्थ अपने आप तिल के ताड़ बन गए थे !!

बोल-चाल की भाषा में, 'फेरी देना' और 'फेरा डालने' में बहुत भेद है। फेरी वाला गली-गली में 'फेरी दिया' करता है किन्तु भाँवरों के समय ही 'फेरा डाला' जाता है। फेरा डालने में शुभ विवाह का भाव रहता है इसीलिए विरह-वेदना से पीड़ित श्रद्धा जब यह कहती है कि—

अरे ! बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूँ मैं फेरा

तो अन्तिम पंक्ति भाषा दोष से दूषित एवं अशुद्ध ग्रामीण भाषा का उदाहरण प्रतीत होता है जिसे सुगमता से बचाया जा सकता था।

हम यह नहीं चाहते कि मुहाविरों का प्रयोग कविता में न किया जाय। हम केवल यही चाहते हैं कि मुहाविरों का तभी प्रयोग किया जाय जब उस प्रयोग से व्यञ्जना-शक्ति में वृद्धि हो सके। किसी भी रूप में अशुद्ध, अनुचित एवं व्यर्थ प्रयोग तो नहीं किये जाने चाहिए।

श्रद्धा ने अपना प्रिय पुत्र मानव जब इड़ा को दे दिया तब मनु को बहुत बुरा लगा। मनु कहने लगे—

कैसा कठोर है तव हृत्तल ?
वह इड़ा कर गई फिर भी छल !
तुम बनी रही हो अभी धीर
छुट गया हाथ से आह तीर !

क्रोध के आवेश में कुछ वाक्य मुँह से बिना सोचे समझे निकल जाते हैं और दूसरे के मर्मस्थल को वेध डालते हैं उसके

अनन्तर क्रोधित मनुष्य को क्रोध शांत होने पर जब ज्ञान होता है तब वह पश्चात्ताप के रूप में कहा करता है कि "ओह ! बड़ी ग़लती हो गई, अब क्या करूँ—तीर हाथ से छूट गया !!"

श्रद्धा द्वारा मानव को, सृष्टि के उपकारार्थ, इड़ा के सुपुर्द कर देने के कार्य से किसी को पीड़ा पहुँचने का अन्देशा तो था ही नहीं। फिर मनु का यह कहना कि "छुट गया हाथ से आह तीर !" अनुचित एवं व्यर्थ प्रयोग नहीं तो क्या है ?

एक स्थान पर लिखा है—

और एक फिर व्याकुल चुंबन
रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा तृप्ति के मिस से

व्याकुल चुम्बन के समय रक्त खौला नहीं करता। क्रोध के समय रक्त खौलता है। चुम्बन के समय, उसके पूर्व, और अनन्तर रगों में खून इधर-उधर दौड़ने लगता है। उस समय के रक्त-संचार अथवा रक्त प्रवाह को "खौलना" कहना अशुद्ध है।

दूसरे चरण में भी भाषा संयत नहीं है। प्यास बुझाने के लिए मन चंचल अवश्य हो जाता है मगर 'तृषा-तृप्ति' के लिए 'शीतल प्राण का धधक उठना' अनुचित अत्युक्ति ही कही जायगी। "तृषा-तृप्ति के लिए" में जो भाव है वही भाव "तृषा-तृप्ति के मिस से" में नहीं आ पाया। 'मिस से' शब्द व्यर्थ एवं निरर्थक प्रतीत होते हैं।

जहाँ 'कामायनी' के चतुर्थांश में कल्पना की ऊँची उड़ान, विलास और ऐश्वर्य की सुन्दर झाँकी, रहस्य की मादकता के साथ आध्यात्मिक भूमि के उच्चतम धरातल का रमणीक वर्णन मिलता है—वहाँ 'कामायनी' का तीन-चौथाई भाग, भाषा-दोष, व्याकरण-दोष, प्रान्तीय प्रयोग, अस्पष्ट प्रयोग, विभक्ति-लोप एवं अनुचित मुहावरों से भरा है।

पन्त का 'गुञ्जन'

प्रो० नगेन्द्र ने पन्तजी के लिए लिखा है "हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसके कलात्मक संकेत पर नाचती है।.... .....भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है। हाँ, कभी कोई नहीं रहा।"

शब्द 'हाँ' पर जोर दिया गया है।

जहाँ तक भावों का सम्बन्ध है, किसी को भी इस बात में सन्देह नहीं हो सकता कि पाश्चात्य लिरिक के ढंग पर गीति-काव्य में कहीं-कहीं पन्तजी ने भाव-जगत् में बड़ा जौहर दिखाया है। विविध चित्रों के सजीव अंकन में पन्तजी ने अपना स्थान बहुतों से आगे प्राप्त कर लिया है। वृक्ष के नीचे अकेली 'छाया' को देख कर पन्त की कविता अपने आप निकल पड़ती है :—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई।

क्या अच्छा होता कि सारी कविता ऐसी ही सुन्दर होती। ऐसे ही कोमल देशज शब्दों द्वारा ऊँची कल्पना प्रदर्शित होती रहती। परन्तु पन्त के ग्रन्थों में ऐसे सुन्दर छन्दों के साथ-साथ व्यर्थ शब्दोंवाले निरर्थक छन्दों की भी भरमार होती है। सच बात तो यह है कि हमारी भाषा में निरर्थक शब्दों से कविता-सुन्दरी को सजाने वाला इतना बड़ा दूसरा कवि अभी तक नहीं हुआ। कवि की इस मनोवृत्ति का सबसे अधिक अनुचित प्रयोग 'गुञ्जन' में मिलता है। यह पुस्तक साहित्य-सम्मेलन तथा इन्टर-'हाँ' से कम महत्त्व का नहीं है।

मीडियेट परीक्षा में पाठ्य-पुस्तक रही है। यह समझ में आना कठिन है कि यह किस कारण से पाठ्य-पुस्तक हुई। यदि 'ऐरावती भाषा' की कल्पना की जा सकती है तो 'गुंजन' उसका बहुमूल्य उदाहरण है।

प्रो० नगेन्द्र ने एक कविता के लिए लिखा है कि इस कविता की शब्द-योजना इतनी विशद है कि पढ़ने पर गुंजन की ध्वनि सुनायी देने लगती है।

जिसने 'गुंजन' पढ़ा है उसे कहीं-कहीं 'नव-वय के अलियों का 'गुंजन' सुनायी देता है तो कहीं-कहीं दूर पर उड़ने वाले वायुयान का गुंजन भी सुनायी देता है—पढ़िए

सुन्दर-सुन्दर जग जीवन !
सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दर तर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे।"

हारमोनियम के सात स्वरों की जगह, जरा से छन्द में, सात बार 'सुन्दर' का प्रयोग कर के और आखिर में 'रे' जोड़कर गीति-काव्य सम्पूर्ण किया है जिसकी प्रशंसा सिवाय नगेन्द्रजी के कौन कर सकता था ? 'सुन्दर तर से सुन्दर तम' क्या वस्तु है ? अंग्रेजी में शायद कवि लिखते रहते होंगे :—

'More Beautiful than Beautiful
Most Beautiful than More Beautiful'

यह हिन्दी भाषा है या हिन्दी-भाषा में निरंकुशता का प्रवाह ? "अवगुंठन-युग" और 'ऐरावती भाषा' का सुन्दर सम्मिलन ?

और सुनिए :—

रह-रह मिथ्या पीड़ा से
दुखता-दुखता मेरा मन
मिथ्या ही बतला देती
मिथ्या का रे मिथ्यापन

'दुखता-दुखता' का दृश्य देखिये। मिथ्या का मिथ्यापन मिथ्या ही बतला देती है, सत्य का सत्यपन सत्य ही बतला देता है, क्रोध का क्रोधपन क्रोध ही बतला देता है, अल्हड़ का अल्हड़पन अल्हड़ ही बतला देता है, छायावादी का छायावादीपन छायावादी ही बतला देता है। कितने सुन्दर गूढ़ प्रयोग हैं!

और देखिए:—

यह जीवन का है सागर
जग-जीवन का है सागर
प्रिय-प्रिय विषाद रे इसका
प्रिय-प्रि, आल्हाद रे इसका

इस छन्द में २० शब्द हैं। दो-दो बार—(१) जीवन (२) का (३) है (४) सागर (५) रे (६) इसका—ये ६ शब्द प्रयुक्त किये गये हैं और ४ बार 'प्रिय' शब्द आया है। फिर भी छन्दमें कोई नयी बात न आ पायी। कविता बुरी तरह लड़खड़ा रही है, मगर समालोचकों ने इसकी भी प्रशंसा कर दी है क्योंकि 'प्रिय आह्लाद' के स्थान में पंतजी ने 'प्रि' आह्लाद लिख दिया है और भूमिका में इस प्रयोग को उचित बतलाया है। 'प्रि' आह्लाद में जादू बतलाया है। समालोचकों ने इस तोड़-मरोड़ की तारीफ करते हुए लिखा कि अब प्राचीन रूढ़ि-ग्रसित भाषा को प्राणमय बनाया जा रहा है!! उसकी लाक्षणिक शक्तियाँ विकसित की जाने लगी हैं!! 'प्रि' आह्लाद में लाक्षणिक शक्तियाँ और व्यञ्जना-शक्तियाँ शायद दोनों ही वर्तमान हैं!!

पन्तजी चिड़ियों को देखकर हर्ष-विभोर हो उठते हैं इसकी समालोचकों ने बहुत ही तारीफ की है। वे गुंजन में कह उठे हैं:—

बिहग, विहग
चिर चहक उठे ये पुञ्ज-पुञ्ज
चिर सुभग सुभग!

अगर शब्द "चहक उठे" को निकाल दिया जाय तो चार ही शब्दों का सम्मिश्रण रह जाता है। (१) चिर (२) विहग (३) पुंज और (४) सुभग। 'चिर' का क्या अर्थ है ? यहाँ व्यञ्जना-शक्ति है या लक्षणा-शक्ति ? दोनों स्थानों में एक ही अर्थ है या क्या ?

'बच्चन' ने एक जगह लिखा है कि—

यह चिर अनादि से प्रश्न उठा,
मैं आज करूँगा क्या निर्णय
मट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।

जरा पन्तजी की 'टोन' (Tone) में बदल कर देखिए सौंदर्य बढ़ता है या घटता ? पढ़िए—

चिर-चिर अनादि से प्रश्न-प्रश्न;
क्या हो निर्णय ? क्या हो निर्णय ?
मट्टी-मट्टी, मस्ती-मस्ती,
क्षण-क्षण जीवन, परिचय-परिचय।

लघु अक्षरों की आवृत्ति से प्राचीन रूढ़ि-ग्रसित भाषा देखिए तो कितनी प्राणमय बन गयी है !! भाव-अभिव्यक्ति के अनुरूप होने के अतिरिक्त संगीत में भी लाभ-प्रद हो गयी। और देखिए:—

"आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता
जल-जल है, लहर-लहर रे,
गति-गति, सृति-सृति, चिर-भरिता।"

इसमें जरा हमारी तुकबन्दी भी मिला लीजिए—

आत्मा है कविता के भी
जिससे कविता है कविता
कवि-कवि है, प्रकृति-प्रकृति रे,
गड़बड़, गढ़-गढ़ चिर भरिता।

पन्तजी जीवन को पूर्ण बनाने के लिए उसके अन्तर में प्रवेश करने की आवश्यकता बताते हैं। कहते हैं—

जीवन की लहर लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

'खेल-खेल' और 'बूड़-बूड़' में शायद ध्वनिमयता का दिग्दर्शन हो सकता होगा! 'बूड़-बूड़' या 'डूब-डूब'? दोनों का प्रयोग अशुद्ध है। अन्तस्तल में पहुँच कर थाह लेने का अर्थ दोनों में किसी से भी नहीं निकल सकता। 'नित बूड़-बूड़' से अर्थ क्या रोजमर्रा के रिहर्सल से है?

और भी बानगी देखिए—टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है:—

(१) शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल-चंचल?

(२) मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर-झर
क्यों जाता पिघल-पिघल गल?

[आँसुओं की बूँदों के लगातार झरने से मन की बूँदें भी शायद झरती रहती हैं, और मन पिघल जाता है या गल जाता है? या दोनों हो जाता है? या पिघल करके गल जाता है? 'गलना' एक बात है 'पिघलना' दूसरी है, मगर कवि की नजर में दोनों का मिलन हो रहा है]

(३) मदिर-कोरों से कोरक जाल
बेधते मर्म बार रे बार

('बार-बार'? या 'बार रे बार?')

*

(४) प्राण ! तुम लघु लघु गात !
चूर्ण-कच, साँस सुगन्ध झकोर
परों में सायं प्रात
विश्व हृत शतदल निभृत निवास
अहर्निशि सांस सांस में लास
अखिल जग जीवन हास विलास
अदृश्य, अस्पृश्य, अजान !

पन्तजी में सबसे बड़ा गुण कल्पना की मूर्ति-विधायनी शक्ति बताया गया है। 'प्राण' के छोटे-छोटे शरीर भी, देखिए, पन्तजी के सम्मुख मूर्त-रूप में आ पहुँचे। 'साँस'-साँस में लास' और 'हास-विलास' का मुकाबिला कर लीजिए। भाव मिले या न मिले—भाषा ठीक हो न हो, तुक मिलायी है। 'सायं प्रात' और 'अहर्निशि' की जोड़ी देख लीजिए।

(५) आज चंचल-चंचल मन प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन भार
आज दो प्राणों का दिन मान
आज संसार नहीं संसार !

('चंचल चंचल' 'मन और प्राण', 'शिथिल शिथिल' 'संसार संसार' के अतिरिक्त 'दिन मान' और 'रात्रिमान' का हिसाब भी देख लीजिए।)

(६) हृदय फूलों में लिए उदार
नर्म-मर्मज्ञ मुग्ध मन्दार

(नर्म और मर्म का अनुप्रास और मुग्ध मन्दार की भाषा देखते ही बनती है)

(७) नवेली बेला उर की हार
मोतिया मोती की मुसकान

मोगरा कर्णफूल-सा स्फार
अंगुलियाँ मदन बान की बान

(बेला, मोतिया, मोगरा का कितना सुन्दर वर्णन है? 'मदन बान की बान' का प्रयोग क्या है? बिहारी का बानिक भी इस पर सकुचाता होगा।)

(८) चींटियों की-सी काली-पाँति
गीत मेरे चल फिर निशि-भोर
फैलते जाते हैं बहु भाँति—
बन्धु छूने अग जग के छोर!

पन्तजी के गीत चींटियों की काली पाँति की तरह रात-दिन चल फिर बहु भाँति फैलते जाते हैं। 'काली पाँति' और 'गीतों की पाँति' में क्या समता है? 'चल फिर' की जगह 'चल कर' कर दीजिए।

(९) नौका से उठतीं जल-हिलोर
हिल पड़ते नभ के ओर छोर

जब तक बड़ा तूफान न हो नाव में बैठे हुए नभ के ओर छोर किस तरह हिलते मालूम पड़ सकते हैं?

(११) जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से

भाव अच्छा है। भाव यह है कि न तो अधिक दुःख हो न अधिक सुख। दोनों बराबर बाँट दिये जायँ। मगर भाषा में यह भाव आ ही नहीं पाया। 'रे' का प्रयोग गलत है। दुःख सुख से किस तरह बँट सकता है? सुख दुख से किस तरह बँट सकता है?

नगेन्द्र जी ने लिखा है कि "पंत की भाषा हिंदी के परिपूर्ण

क्षणों की वाणी है। उसमें हिंदी की समस्त शक्तियों का विकास है। शाब्दिक मितव्ययिता कवि में प्रारंभ से ही मिलती है।"

जो उदाहरण अभी देखे हैं, वे शाब्दिक मितव्ययिता के हैं या शाब्दिक अपव्ययता के, पाठक स्वयं समझ सकते हैं। 'गुंजन' ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

'गुंजन' में 'आँगन' 'रुपहले' आदि शब्दों का प्रयोग केवल संगीत के लिए किया गया प्रतीत होता है।

'रुपहले' का अनावश्यक प्रयोग देखिए :—

रुपहले, सुनहले, आम्रबौर
नीले, पीले, औ, ताम्र भौर
रे गन्ध-अन्ध हो ठौर ठौर
उड पाँति-पाँति में चिर-उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन

'आम्रबौर' को सुनहले कहने में अत्युक्ति न होगी, मगर शायद 'मलिहाबादी' सफेद आम के वृक्ष के बौर को 'रुपहला' रंगवाला कह सकते हों! दूसरा तो ऐसा वृक्ष देखा ही नहीं जिसका बौर रुपहला कहा जा सकता हो। अब 'आम्रबौर' आ गया था तो तुक मिलाने को 'ताम्र भौर' भी आना था अन्यथा काले भ्रमर से काम चल सकता था। ताँबे कैसा रंग का भौंरा कहाँ होता है?

'गन्ध-अंध', 'ठौर ठौर', 'पाँति-पाँति' 'चिर-उन्मन' का भी जादू सिर पर चढ़कर बोल रहा है। तभी तो नगेन्द्रजी ने लिखा है कि "गुंजन में कवि की मनन प्रवृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाने से कवि की कला संयत एवं सुख-सरल हो गयी है।"

❀ ❀ ❀ ❀

प्रो० नगेन्द्रजी ने 'अप्सरा' शीर्षक गीति-काव्य में 'लद्दूपन' का आना बतला दिया है, इसलिए उसका यहाँ जिकर करना व्यर्थ है। परंतु नगेन्द्रजी का यह कहना है कि "गुंजन में अधिकतर

छोटे-छोटे गीत हैं—कारण स्पष्ट है—मनन और चिंतन का निष्कर्ष बहुत अधिक नहीं होता।"

'नौका-बिहार' शायद मनन और चिंतन का निष्कर्ष है। उस कविता को न्यायोचित बतलाते हुए समालोचकों का कहना है कि पंतजी ईश्वर की महत्ता के साथ जीवन की महत्ता भी कम नहीं मानते। कवि प्रकृति को भी सत्य मानता है, क्योंकि वह ईश्वर का ही प्रतिबिंब है।

भाषा भी ईश्वर का ही प्रतिबिंब है तभी तो 'पल्लव' में पंतजी ने लिखा है—

"भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह उसकी हृत्तन्त्री की झङ्कार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।"

तभी तो प्रकृति, पुरुष, नौका, बिहार, भाषा, स्वर, व्यञ्जन, सभी पंतजी को शाश्वत प्रतीत हुए; और इसी लिए प्रार्थना है कि, शाश्वतमयी कविता के इस अंश को भी देखने का कष्ट कीजिए। पंतजी 'नौकाबिहार' में लिखते हैं :—

इस धारा सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम
शाश्वत नभ का नीला विकास
शाश्वत लघु लहरों का विलास!
हे जग जीवन के कर्णधार
चिर जन्म मरण के आर पार
शाश्वत जीवन नौका बिहार!!

भाषा में जो रेशमी मार्दव 'गुंजन' में आ गया बतलाया जाता है, यह पद्य उस रेशमी मार्दव का ही शाश्वत स्वरूप है। भगवान

करे भाषा का यह शाश्वत स्वरूप पंतजी के कर कमलों से फलता-फूलता बना रहे।

इस शाश्वत सा ही कवि का क्रम
शाश्वत इस कविता का उद्गम
शाश्वत उन्मन, शाश्वत गुंजन
शाश्वत हृत्तन्त्री का कम्पन!
शाश्वत युग, युग-भाषा हिन्दी;
हिन्दी-सर 'शाश्वत' की बिन्दी!
'शाश्वत' शाश्वत' गुंजार दिया
भाषा का पुनरुद्धार किया!!

'निराला' का 'तुलसीदास'

पंडित सुमित्रानन्दन पन्त ने एक स्थान पर लिखा है:—"जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गला कर कोमल, करुण, सरस प्राञ्जल कर लेना पड़ता है!"

हमारे नवयुवक कवियों ने भी पन्तजी की राय को सही मान कर भाषा को हृदय के ताव में गला कर कोमल कर के उस भाषा की बड़ी चुवानी प्रारम्भ कर दी। यह भूल गये कि खाने के पहले इन बड़ियों को अग्नि और जल की सहायता से गला लेने की अत्यन्त आवश्यकता हुआ करती है। कच्ची बड़ियों को खाने में आनन्द नहीं आ सकता। आनन्द आये या नहीं इसकी परवाह नहीं। जैसे पन्तजी ने कहा वैसी ही बड़ी चुवादीं, यह कौन-सी कम बात है। 'निराला' जी के 'तुलसीदास' में ऐसी ही बड़ियों की भरमार है। कहीं से कोई छन्द उठा लीजिये कच्ची बड़ी का स्वाद मिलता चला जायगा।

जिस खड़ी बोली का रूप अनस्थिरता के वाग्जाल से निकाल कर भारतेन्दुजी ने स्थिर किया—जिसको पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी तथा अन्य महारथियों ने परिमार्जित एवं नियंत्रित किया—निरालाजी के 'तुलसीदास' में वही खड़ी बोली फिर से पूर्व काल के अनस्थिरता-भँवर में इधर-उधर बुरी तरह भटकने लगी। आज भाषा के सम्मुख वे ही विकट प्रश्न उपस्थित हैं जो भारतेन्दुजी के पूर्व उपस्थित थे।

ग्रन्थ 'तुलसीदास' लिखने के बाद निरालाजी को शायद यह बात मालूम हुई कि ग्रन्थ की भाषा साधारण मनुष्यों की समझ

के बाहर है, इसलिए उन्होंने हर एक छन्द का अर्थ भी बतला देना उचित समझा। हिन्दी-साहित्य इस कार्य के लिए उनका चिर-कृतज्ञ रहेगा। भाव, भाषा के अनुसार है? भाषा भाव के अनुसार है? या भाव और भाषा अलग-अलग अपना-अपना राग अलाप रहे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर छन्द और अर्थ पढ़ कर पाठक स्वयं दे देंगे, ऐसी आशा है।

निरालाजी ने उस समय का वर्णन किया है जब भारतीय संस्कृति का सूर्य अस्त हो चुका था और मुस्लिम सभ्यता का चंद्रमा उदय हो रहा था। इस पुस्तक में राहु-केतु का कोई वर्णन नहीं जो सूर्य-चन्द्र दोनों को निगल गये।

खैर, उस समय का वर्णन करते समय सहसा उनको कालिञ्जर के गढ़ की याद आ जाती है और वे कालिंजर किले के लिए लिख उठते हैं:—

"वीरों का गढ. वह कालिंजर
सिंहों के लिए, आज पिंजर
नर हैं भीतर, बाहर किन्नर-गण गाते
पीकर ज्यों प्राणों का आसव
देखा असुरों ने दैहिक दव
बन्धन में फँस आत्मा-बान्धव दुख पाते।"

अर्थ देखिए, कहते हैं "कालिंजर का गढ़ किसी समय वीरों का दुर्ग था आज उनके लिए पिंजर—बन्दी-गृह है।" शायद उसमें 'डैटेन्यू' भर दिये गये!! पढ़ लेने पर अर्थ यह मालूम होता है कि किसी समय वीरों का गढ़ था आज सिंहों के लिए चिड़ियाघर बना दिया गया है।

अन्दर उसके 'नर' हैं—मगर बाहर उसके 'किन्नर-गण' गा रहे हैं। किन्नर गाने के लिए कहाँ से आ कूदे? निरालाजी अर्थ में यह बात साफ करते हैं:—'किन्नर' का अर्थ 'नपुंसक'। यानी

कालिंजर के बाहर "नपुंसक उत्सव मना रहे हैं, अपनी दासता पर मग्न होकर।" कितने विलक्षण अर्थ हैं ? नपुंसक कहना हो तो आयन्दा 'किन्नर' कहा करिए। सिवाय कालिंजर-गढ़ के सामने और कहीं किन्नर-गण गाते निरालाजी को नहीं मिल पाये !!

दूसरे भाग का अर्थ करते हैं—

"प्राण-शक्ति की मदिरा पीकर जैसे असुरों ने दैहिक यातना भोगी। आध्यात्मिक शक्तियाँ जैसे माया के बन्धनों में पड़ कर दुःख झेलती हैं (उसी प्रकार भारतीय-वीर इस समय यंत्रणा पा रहे हैं)।"

कितने शुद्ध अर्थ हैं ?

'बन्धन में फँस आत्मा-बान्धव दुःख पाते' कितना शुद्ध प्रयोग है ? 'आत्मा-बांधव' का अर्थ "आध्यात्मिक शक्तियाँ" हुआ। क्यों ? 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं।

'नर' और 'किन्नर' का अन्तर बता दिया गया, अब राजपूत और राजा के वेष में सूतों का अन्तर दिखाते हैं:—

"लड़-लड़ जो रणधुँकुरे, समर
हो शमित देश की पृथ्वी पर
अजर, निर्जर, दुर्धर्ष अमर, जग तारण
भारत के उर के राजपूत
उड़ गये आज वे देवदूत
जो रहे शेष, नृप-वेश, सूत-बन्दी-गण।"

'निर्जर' का अर्थ 'जराहीन यानी देवता' किया है। कहते हैं जो सच्चे राजपूत थे वे तो देश के लिए लड़ कर स्वर्ग चले गये, जो बचे हैं वे सूत बन्दी मात्र हैं।

'भारत के उर के राजपूत'—यानी भारत के हृदय के राजपूत तो आज देवदूत बन कर उड़ गये 'जो रहे शेष'—का क्या अर्थ है ? जब सभी उड़ गये तो शेष कौन रहा ? शायद भारत के दिमाग के (मस्तिष्क के) राजपूत शेष रहे। और जो शेष रहे वे

सूत-बंदी-गण हो गये ! शायद सूत-बन्दी-गण में मस्तिष्क अधिक अच्छा होता होगा !

आगे कहते हैं :—

"झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन, सजीवन।"

अर्थ करते हैं—"मुस्लिम सभ्यता के चन्द्र का उदय हुआ है, उसका अमृत प्रेयसी पृथ्वी के अधरों को सींचता है" (निःस्वन = चुपचाप !)

'संजीवन' का अर्थ बतलाते हैं—

"झरते अमृत के चुम्बन पृथ्वी को जीवन देते हैं। अर्थात् सब लोग भोग-विलास में लिप्त हैं।"

कितना प्रखर अर्थ है ? यदि 'संजीवन' का यह अर्थ हनूमानजी को भी ज्ञात होता तो वे भी लक्ष्मणजी को मृत्युशय्या पर पड़ा छोड़ कर इसी बात पर सोच-विचार करते !! खैर, अगर अब कहना हो कि 'भोग-विलास में लिप्त हैं' तो "ज्योतिर्मय-प्राणों के चुम्बन संजीवन" से काम चल जायगा।

व्यंजना-शक्ति, लक्षणा-शक्ति, सभी शक्तियों का शनैः-शनैः विकास हो रहा है।

आगे कहते हैं :—

"भूला दुख, अब सुख-स्वरित जाल
फैला—यह केवल कल्प—काल—
कामिनी-कुमुद-कर-कलित ताल पर चलता;
प्राणों की छवि मृदु-मंद-स्पद
लघु-गति, नियमित-पद, ललित छन्द
होगा कोई, जो निरानन्द, कर मलता।"

यह विलास-पूर्ण जीवन का चित्रण बतलाया जाता है। सब लोग दुःख भूल गये। 'सुख-स्वरित जाल' यानी सुख के स्वरों (?)

से बुना जाल फैल गया। सुख के स्वरों से जाल बुना गया था--सुख के व्यंजनों से नहीं !! लेकिन यह सुख 'केवल कल्प-काल' है। अर्थ करते हैं कि वास्तविक आनन्द से हीन है, केवल कल्पना में सुख देनेवाला है। 'कल्प' का अर्थ 'कल्पना' हुआ तो 'जल्प' का अर्थ 'जल्पना' होगा। अब बताइए 'कल्प-काल' का छन्द है या 'जल्पकाल' का ?

और सब से बड़ी बात क्या कह दी ? 'कामिनी-कुमुद-कर' 'कलित ताल पर चलता'—यानी "समय की गति सुन्दरियों के इशारे पर निर्भर है।" 'कलित ताल' का अर्थ हुआ समय की गति !

अब 'प्राणों की छवि' की भी शोभा देख लीजिए। पन्त के 'गुंजन' में "प्राण ! तुम लघु-लघु गात" देख चुके हैं। यहाँ प्राणों की छवि देखिए ! प्राणों की छवि मृदु है, मन्द है, स्पन्द है। 'स्पन्द' क्या ? कहते हैं प्राणों का स्पन्दन भी अत्यन्त मधुर और मन्द होता है। उसकी लघु गति होती है—नियमित पद है—ललित छन्द हैं। यानी "जीवन सजा-बजा, सधे ताल पर चल रहा है; मुक्त प्रवाह उसमें नहीं है।" ये अर्थ कहाँ से निकल आये ? खैर, कहीं से हों, अर्थ यही किये गये हैं। एक जगह प्राणों की छवि है तो दूसरी जगह प्राणों का स्पन्द है, यानी स्पन्दन है ! वास्तव में, भाषा की लाक्षणिक शक्तियों का स्पन्दन हो रहा है !!

ऐसे स्पन्दन में शायद ही कोई ऐसा होगा जो निरानन्द होकर कर मलता हो !! निरालाजी अर्थ करते हैं:—"शायद ही कोई ऐसे में विलास से विमुख स्वतन्त्रता की साधना में मग्न होगा।"

यह तो भूमिका का दिग्दर्शन है। अब तुलसीदासजी के जन्म पर आते हैं। उनकी जन्म-भूमि राजापुर का वर्णन सुनिए :—

"पड़ते हैं जो दिल्ली पथ पर
यमुना के तट के श्रेष्ठ नगर,
वे हैं समृद्ध की दूर—प्रसर माया में

यह एक उन्हीं में राजापुर
हैं पूर्ण, कुशल, व्यवसाय प्रचुर
ज्योतिश्चुम्बिनी कलश-मधु-उर छाया में।"

यमुना के तट के श्रेष्ठ नगरों में राजापुर है। कौन से यमुना-तट-नगरों में ? केवल उन नगरों में जो दिल्ली पथ पर पड़ते हैं। दिल्ली-पथ का क्या मतलब ? आगरा से दिल्ली के रास्ते में अथवा प्रयाग से दिल्ली-पथ पर या मथुरा से दिल्ली के रास्ते में या जमनोत्तरी से दिल्ली के रास्ते में ? निरालाजी साफ नहीं बतलाते क्योंकि उनकी दुनिया बिल्कुल गोल है। जैसा वे चक्कर लगा रहे हैं आप भी चक्कर लगाइये, दिल्ली पथ पर ही पहुँच जायँगे।

'दूर प्रसर माया' का अर्थ है—दूर तक फैली हुई माया में।

"ज्योतिश्चुम्बिनी कलश-मधु-उर-छाया में"—कितना सुन्दर पद है ? इसका अर्थ किया है :—

"उस छाया में छाया जो ज्योति को चूमती है, जिसके हृदय में मधु से भरे कलश हैं, यानी गुम्बददार धन-धान्य-पूरित मकानों की छाँह में राजापुर के लोग रहते हैं।"

समझिये !

कल्पना का काल यानी कल्प-काल है। अब अर्थ लगाने में भी कल्पना करनी पड़ेगी !! अर्थ समझने में भी !!

आगे तुलसीदासजी के शारीरिक गठन, उनके विद्याध्ययन का परिचय दिया जाता है। कहते हैं—

युवकों में प्रमुख रत्न चेतन
समधीत शास्त्र काव्या-लोचन
जो तुलसीदास, वही ब्राह्मण कुल-दीपक
आयत-दृग, पुष्ट-देह, गत-भय
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा का मन्द-स्मित परिचय, संस्मारक

कहते हैं कि तुलसीदासजी युवकों में प्रमुख रत्न नहीं थे बल्कि प्रमुख रत्न-चेतन थे। 'रत्न-चेतन' का अर्थ बतलाया है "रत्न के समान अपनी चेतना से शोभित" !! और वे 'समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन' भी थे। अर्थात् वे ऐसे थे "जिसने शास्त्र, काव्य, और आलोचनायें पढ़ी हैं !"

वे अपने प्रकाश में भी 'निःसंशय' थे। योग्यता में नहीं, प्रतिभा में नहीं, बल्कि प्रकाश में निःसंशय थे। क्यों प्रकाश में निःसंशय थे ? केवल इसलिये कि प्रतिभा की मन्द मुस्कान लिए हुए परिचय उनके पास था, और 'संस्मारक' क्या ? शायद वह स्मारक बना रहे होंगे !!

निरालाजी अर्थ करते हैं "प्रतिभा का सुचारु परिचय देनेवाला और उसे दूसरों के लिए स्मरण करने के योग्य बनाने वाला है !!" समझ में आता हो तो समझ लीजिए। यह क्लिष्ट भाषा और 'क्लिष्ट' अर्थ !!!

सरल भाषा

पन्तजी ने 'पल्लव' में 'स' का बहुत प्रयोग किया। 'गुंजन' में 'रे' को अपनाया। 'ग्राम्या' में 'गा' का प्रयोग किया और सरल से सरल भाषा लिखी है।

निरालाजी ने इसी पद्धति को सही मान कर एक ही पुस्तक 'तुलसीदास' में सातों स्वर 'सा रे गा मा पा धा नि' का प्रयोग कर दिया है। इसी में 'ग्राम्या' जैसी सरल भाषा भी मिल जायगी। एक-दो बानगी तो देखिए ! तुलसीदास की स्त्री रत्नावली को तुलसीदास के साले लेने आये। शायद निरालाजी के 'तुलसीदास' उनको अपने श्वसुरालय न भेजते होंगे। भाई अपनी बहन से कहता है:—

"हो गयी रतन, कितनी दुर्बल,
चिंता में बहन, गयी तू गल ?

माँ, बापूजी, भाभियाँ सकल पड़ोस की,
हैं निकल देखने को सत्वर;
सहेलियाँ सब ताने देकर,
कहती हैं, बेचा वर के कर, आ न सकी !"

सारे पड़ोस की लाखों भाभियाँ चाभियाँ हिलाती-हिलाती व्याकुल हो रही हैं !! भाभियाँ ताने नहीं दे रहीं। रत्नावली की सहेलियाँ रत्नावली के भाई को ताने दे रही हैं कि अरे कमबख्त, तूने अपनी बहन को 'बर के कर' बेच डाला। अगर तेरे बाप का कसूर होता तो हम खामोश रहतीं !! और सुनिए:—

"तुझ से पीछे भेजी जाकर
आयीं वे कई बार नैहर
पर तुझे भेजते क्यों श्रीवर जी डरते ?
हम कई बार आ-आकर घर
लौटे पाकर झूठे उत्तर
क्यों बहन, नहीं तू सम, उन पर बल करते "

'नहीं तू सम, उन पर बल करते' समझने योग्य है। आपने अर्थ किया है "उन पर बल दिखाते हुए क्या तू उनकी बराबरी नहीं हो सकती ?"

यह प्रगतिवाद की कविता है !! भाई बहन से कहता है "क्या श्रीवरजी का हाथ मरोड़ कर पीठ में दो घूँसे तू नहीं लगा सकती ? स्त्री-पुरुष बराबर हैं फिर क्या श्रीवरजी का सिर फोड़ उनको समता का नया पाठ नहीं पढ़ा सकती ?" और भी घर का सम्वाद सुनिए:—

"आँसुओं भरी माँ दुख के स्वर
बोली रतन से कहो जाकर
क्या नहीं मोह कुछ माता पर अब तुमको ?

जामाताजी वाली ममता
माँ से तो पाती उत्तमता
बोले बापू, योगी रमता मैं अब तो"

निरालाजी ने अर्थ किया है कि "माँ खुद जामाताजी वाली ममता को बढ़ा देती हैं। लड़की को पति का प्यार सिखा देती हैं—उलाहने के रूप में कहा गया।"

यह बतलाने की कृपा नहीं की कि यह उलाहना किसने किसको दिया! भाई ने बहन को? या पुत्र ने माता को?

पन्त ने लिखा था—

"सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम"

निरालाजी लिख सकते थे।

उत्तम से नित उत्तमतर
उत्तमतर से उत्तमतम"

मगर आपने "उत्तमतम" न लिख कर इसी तर्ज पर 'उत्तमता' लिखा है। इसी 'उत्तमता' से घबड़ाकर शायद बापूजी 'योगी रमने' के लिए किसी आश्रम में प्रस्थान करने को उद्यत हो गये होंगे!!

और भी सुनिए, भाईजी कहते चले जाते हैं:—

"हम, बिना तुम्हारे आये घर,
गाँव की दृष्टि से गये उतर
क्यों बहन, ब्याह हो जाने पर, घर पहला
केवल कहने को है नैहर?
दे सकता नहीं स्नेह आदर?
पूजे पद, हम इसलिए अपर? उर दहला"

कहते हैं कि हमने पैर पूजे हैं इसीलिए हम 'अपर', दूसरे हो गये? 'उर दहला' सांकेतिक शब्द हैं—जैमिनिसूत्र की बानगी है!! अर्थ करते हैं कि इतना सुनना था कि "रत्नावली का हृदय काँप उठा"।

सरल भाषा के कितने सुन्दर उदाहरण हैं ? इसी कविता को लक्ष्य करके तो पन्तजी ने लिखा था—

'सरलपन ही है इनका मन
निरालापन है आभूषन'

सांकेतिक शब्द योजना

'तुलसीदास' सांकेतिक शब्दों से भरा पड़ा है। ऐरावती भाषा की कल्पना अगर पन्त के 'गुंजन' में की ही जा सकती है तो निराला के 'तुलसीदास' में वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। एक-दो उदाहरण देखिए:—

तुलसीदासजी को स्त्री के अपने भाई के साथ चले जाने पर उनको चैन नहीं मिलती। वह भी दो एक दिन बाद ससुराल पहुँचते हैं, उसका वर्णन सुनिए—

"सुनते सुख की वंशी के सुर
पहुँचे रत्नधर रमा के पुर
लख सादर, उठी समाज श्वसुर-परिजन की
बैठाला देकर मान-पान
कुछ जन बतलाये कान-कान
सुन बोली भाभी यह पहचान रतन की"

पढ़ लेने पर ज्ञात यह होता है कि भगवान् कृष्ण कोई वंशी बजा रहे थे, उसकी भनक तुलसीदासजी के कानों में पड़ी। परन्तु निरालाजी अर्थ करते हैं 'सुख की वंशी' का अर्थ है 'प्रकृति के मोहक स्वर'। 'वंशी' अब 'प्रकृति' का पर्य्यायवाची शब्द समझा जायगा !!

'रत्नधर' का अर्थ है, 'रत्नावली के पति और रत्न को धारण करने वाले'।

'रमा के पुर' का अर्थ है "लक्ष्मी, अपनी स्त्री के गाँव।" इस

तरह से प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी ससुराल को 'रमा का पुर' कह सकता है।

'कुछ जन बतलाए कान-कान'—यानी कुछ मनुष्य 'मान-पान' के समय 'कान-कान' बतलाने लगे। मुँह से नहीं—शायद कान से बात करने लगे !!

परन्तु निरालाजी ने अर्थ किये हैं कि "कुछ लोगों ने काना-फूसी की कि इतनी जल्दी कैसे आ गये"।

यह कानाफूसी सुनकर 'भाभी' ने कहा यह रतन की पहचान है। किसकी भाभी ? तुलसीदासजी की या रत्नावली की ? आप अपने प्रश्नों का उत्तर स्वयं दे दीजिए। निरालाजी अर्थ करते हैं कि भाभी ने कानाफूसी सुनकर कहा कि इतनी जल्दी आना तुलसीदास का अपनी पत्नी के प्रति प्रेम सूचित करता है।

रत्नावलीजी को इस बात पर गर्व होना चाहिए था, मगर वह भाभी के इन वचनों को व्यंग्य समझी। अंगों में आग लग गयी, चंचल नेत्रों में अग्नि जल उठी:—

'जल गये व्यंग्य से सकल अङ्ग
चमकी चल दृग ज्वाला तरंग
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला
पति की इस मति-गति से मरकर
उर की उर में, ज्यों तापक्षर
रह गयी सुरभि की म्लान—अधर वर माला"

'पति की इस मति-गति से मरकर' कितना अजीब प्रयोग है !

यह सब सांकेतिक शब्द-योजना है। 'तापक्षर' का अर्थ है आन्तरिक ताप से पीड़ित; 'पापक्षर' का अर्थ होगा आन्तरिक पाप से पीड़ित; और अगर इंजन खराब हो जाय तो आप कह सकेंगे 'भापक्षर' अर्थात् आन्तरिक भाप से पीड़ित !! शब्द-योजना कितनी अच्छी ? और फिर—

'रह गयी सुरभि की म्लान-अधर वरमाला'

अर्थ करते हैं "मुरझायी दलों की खुशबूवाली वरमाला के समान रत्नावली रह गयी"

'अधर' का क्या अर्थ है ? और अप्रसंग क्या ? रत्नावली बाला कैसे बन गयी ? और अप्रसंग किस तरह हो गयी ? जवाब नदारद है ! इसके आगे रत्नावली के चित्त की दशा का वर्णन है :—

"बोली मन में होकर अक्षम,
रक्खो मर्यादा पुरुषोत्तम !
लाज का आज भूषण, अक्लम, नारी का;
खींचता छोर, यह कौन और
बैठा उनमें जो अधम चोर ?
खुलता अब अंचल, नाथ, पौर साड़ी का !"

'अक्षम' और 'अक्लम' व्यर्थ के शब्द ठूँसे गये हैं। 'अक्षम' का अर्थ असमथ और 'अक्लम' का अर्थ न थकने वाले किया गया है। अब 'कल्प काल' का नया नमूना देखिए !! अर्थों में बतलाया गया है कि रत्नावली मन में कहती है कि 'हे नाथ, पुर की लज्जा रूपिणी साड़ी का अंचल खुल रहा है।' 'पौर साड़ी' कितने अधिक सांकेतिक शब्द निकले !!

'खींचता छोर यह कौन और
बैठा उनमें जो अधम चोर'

एक नयी समस्या उत्पन्न कर देता है। निरालाजी कहते हैं कि रत्नावली कहती है कि तुलसीदास के मन में कौन चोर बैठा हुआ उसके वस्त्र को खींच रहा है ? निरालाजी टीका-टिप्पणी करते हैं "मोह का चोर दुःशासन है, रत्नावली द्रोपदी है जिसका चीर खींचा जा रहा है"

ऐसे कहिए तो बेहतर होगा कि "छायावाद का कवि दुःशासन है; भाषा द्रोपदी है जिसका चीर खिंचता चला जा रहा है !!"

"कुछ काल रहा यों स्तब्ध पवन
ज्यों आँधी के उठने का क्षण
प्रिय श्रीवरजी को जिसी शयन करने को
ले चली साथ भावज हरती
निज प्रियालाप से वश करती
वह मधु-शीकर निर्झर झरती झरने को"

अर्थ करते हैं—'आँधी उठने के पहले जो क्षणिक निस्तब्धता रहती है, वही इस घर में व्यापी थी'। मगर आँधी आयी नहीं! या श्रीवरजी का जीमना ही आँधी सदृश हुआ!! और 'निर्झर झरती झरने' का 'मधुशीकर' कितना सुन्दर हुआ? प्रकृति पर्यवेक्षण है या नेचर निरीक्षण? या केवल "भाभी के वश में हुआ झरने का निरीक्षण?

बाद में तुलसीदास को डाट पड़ती है। रत्नावली कहती हैं:—

"धिक! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल धर्म धूत।
राम के नहीं काम के सूत कहलाए।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ हाड़ चाम।
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये।"

'अनाहूत' का अर्थ है "बिना बुलाए हुए"। 'धूत' को आप 'धूर्त' भी पढ़ सकते हैं मगर अर्थ है 'पवित्र'!! 'विराम' क्या? कौमा, सैमीकोलन या और कुछ? अर्थों में केवल यही लिखा है "नारी के चरणों पर जीवन निछावर करने के लिए तुलसीदासजी आये, शिक्षा का यह परिणाम उसे अच्छा नहीं लगा।" नारी के चरण भविष्य में कौमा, सैमीकोलन, कोलन सरीखे विराम-चिह्न समझे जायँगे!!

तुलसीदासजी की जगह अगर महाकवि 'चञ्चा' होते तो स्त्री की डाट डपट सुनते ही कह गुजरते:—

"बहुत विलम्ब लगाया तूने
बहुत बताया बुत्ता
मैं हूँ तेरा पति परमेश्वर
नहीं पालतू कुत्ता"

मगर तुलसीदासजी ने ऐसा नहीं कहा! उनको ज्ञान उमड़ पड़ा। उनके हृदय में जड़ और चेतन का भयानक संग्राम शुरू हो गया। उनके हृदय में इतना भयंकर संग्राम हुआ हो या नहीं, कहा नहीं जा सकता मगर निरालाजी के छन्दों में इतना अधिक भयानक संग्राम शुरू हो गया कि चेतन शब्द भी जड़ प्रतीत होते हैं। यहाँ उन छन्दों को उद्धृत करना व्यर्थ समय नष्ट करना होगा। आप कच्ची बड़ी खाते-खाते थक जायँगे मगर निरालाजी कच्ची बड़ी चुवाते-चुवाते नहीं थकेंगे। जो सज्जन फिर भी देखना चाहें वह पढ़ने का कष्ट उठावें। शेष छन्दों में उनको और भी त्रिहंगम दृश्य दिखलायी पड़ेगा। न शब्द समझ में आवेंगे और न अर्थ! मूल से भाषा कठिन प्रतीत होगी!! तभी तो राय कृष्णदासजी ने भूमिका में लिखा है:—

"कवि का क्षेत्र नवीन है। रहस्यवाद का कथा रूप में उसने एक नया चित्र खींचा है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण उसका ध्येय है। अतः, उसे अपनी भाषा बहुत कुछ गढ़नी पड़ी है"। आगे लिखा है:—

"निरालाजी अपनी कविता में ओजगुण के लिए प्रसिद्ध हैं। उसका यहाँ पूर्ण विकास हुआ है। भाषा के साथ छंद का ओज देखते ही बन पड़ता है।"

जैसा हमने ऊपर दिखाया है छंद में अलग ओज है, भाषा में अलग, और अर्थ में अलग ही ओज है। फिर 'तुलसीदास' की 'ओजबाजी' क्यों न प्रसिद्ध हो? हमारी राय में छंदों में 'ओजबाजी' फूट-फूट कर निकल पड़ी है, और वह देखते ही बन पड़ती है!!

जो कुछ भी हो, निराला का 'तुलसीदास' हिंदी-भाषा में एक नयी चीज है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है !!

प्रतिक्रिया अथवा दासता ?

छायावाद में रहस्य-प्रवृत्ति का प्राधान्य बताया गया है। अद्भुत और रहस्य उसके आधार-भूत-तत्व बताये गये हैं।

प्रो० नगेन्द्र ने लिखा है और बहुत से हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने इस मत का समर्थन किया है कि द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ा-भूमि उनका निकटवर्ती पार्थिव संसार रह गया था। अतः स्वभावतः ही उनका विरोध करनेवाले कवि दूर, धुँधले एवं रहस्यमय लोक की ओर बढ़ने लगे।

अन्य ग्रन्थकारों तथा लेखकों ने लिखा है कि कवि-समाज का ही प्रतिनिधि है और इस समय के समाज में राजनीतिक तथा आर्थिक निराशा फैली हुई है। इसी का प्रतिबिंब साहित्य में छायावाद के रूप में दृष्टिगोचर हुआ है।

हमारी राय में दोनों मत सत्य से दूर हैं। छायावादी कवि यदि समाज का प्रतिनिधि होता तो उसकी कविता समाज के शिक्षित पुरुष समझने में समर्थ होते, परन्तु बात यह है कि एक प्रतिशत शिक्षित मनुष्य भी आज इस कविता को समझने में असमर्थ हैं।

द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ा-भूमि पार्थिव संसार हो गया था इसमें सन्देह नहीं; परन्तु यह बात न भूल जाना चाहिए कि इसका कारण अत्यन्त विलास-प्रिय शृंगार-रस की कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही थी।

द्विवेदीकालीन कवियों का प्रयत्न हिन्दी-साहित्य को उस गर्त से बचाने का था जहाँ पर अत्यन्त शृङ्गारमयी कविता किसी भी साहित्य को ले डूबने की सामर्थ्य रखती है। इसीलिए वे पार्थिव

संसार की तरफ मुड़े थे। हिन्दी-साहित्य उनके समय में वास्तविकता (Realism) की ओर प्रवृत्त हुआ था। हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्ति अगर उसी तरफ यानी यथार्थवाद की तरफ रहती तो साहित्य के साथ-साथ देश की भौतिक उन्नति भी हो सकती थी। उन द्विवेदी कालीन कवियों को यह पता न था कि शृङ्गार के विरुद्ध प्रतिक्रिया का यह फल भी हो सकता है कि शृङ्गार-रस के साहित्य के साथ-साथ भाषा का शृङ्गार भी हाथ से चला जायगा और मतिराम, घनानन्द, रसखान, मीरा, सूर, हरिश्चन्द्र की लावण्यमयी कविता के स्थान में हिन्दी-साहित्य में ऊबड़-खाबड़, नीरस और शुष्क छायावादी कविता ही दृष्टि गोचर होगी।

प्रतिक्रिया की इतनी जल्दी प्रतिक्रिया का होना असम्भव है। न छायावाद प्रतिक्रिया के रूप में ही आया है। जिस रहस्यवाद का नाम लिया जा रहा है वह रहस्यवाद हमारे यहाँ—हिन्दी-साहित्य में—सैंकड़ों वर्षों से विद्यमान है। वह कोई नयी वस्तु नहीं है। वह महाशृङ्गारी कवियों की कविता में—देव और बिहारी में—भी कई स्थलों पर मिल जायगा। कबीर, दादू, सुन्दर, भूधर इत्यादि ने तो सिवाय रहस्यवाद के और कोई विषय अपनाया ही नहीं।

मगर वर्तमान छायावाद एक नयी वस्तु केवल इसलिए है कि वह पाश्चात्य और मुख्यत: अंग्रेज़ी साहित्य के 'रोमांटिक' युग की कविता पर निर्भर है। इसमें साहित्यिक प्रतिक्रिया की बू नहीं है, बल्कि साहित्यिक दासता की ऐसी छाप लगी हुई है जो दूर से ही दिखाई पड़ती है। हमारा जीवन आज अधिकतर अंग्रेज़ी प्रभावों से निर्मित है। ऐसी परिस्थिति में अगर हमारे नवयुवक कवि, वर्डस्वर्थ, शैली और कीटस् से प्रभावित हुए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दु:ख केवल इस बात का है कि अंग्रेज़ी साहित्य के 'रोमांटिक' युग के कवियों का हमारे कवियों ने कोई विशेष अध्ययन नहीं किया है। उनकी फिलॉसफी, उनका दर्शन हमारे कवियों ने

समझने का प्रयत्न तक नहीं किया। केवल नकल की है। और जैसा नकल का नियम है ऊपर की थोथी बातें हम लेते रहे, वास्तविक गुण नहीं ले पाये। वास्तविक गुण, पाश्चात्य काव्य की भावुकता, पाश्चात्य दार्शनिकता और दोनों का सुन्दर समन्वय तब तक समझ में ही नहीं आ सकता जब तक कि उस वातावरण में हमारा पालन-पोषण नहीं हुआ हो जिसमें अंग्रेजी कवियों ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी। उनके भावों का असली आशय समझ में आना कठिन है और उनके भावों को बिना अच्छी तरह समझे, अपनी भाषा में ढालना और भी कठिन है। बिना भाव अच्छी तरह समझे जब हम उन भावों को अपनी भाषा में लिखने का प्रयत्न करने लगते हैं तो हमारी भाषा क्लिष्ट हो जाती है। प्रसाद गुण जो कविता के लिए आवश्यक है, लुप्त हो जाता है। परिणाम यह हुआ है कि न तो वह कविता हमीं समझ सकते हैं न दूसरे ही समझ सकते हैं। अगर कोई भाव हमारी समझ में आ चुके हैं तो हम दूसरों को भी सुगमता से समझा सकते हैं। अगर उन भावों से हमारा समस्त अन्तर्बाह्य एक साथ झंकृत हो चुका है तो हमारी कविता में भी एक ऐसी तल्लीनता आ जायगी जो दूसरों को भी आनन्दित कर सकेगी।

स्वामी रामतीर्थ को शैली और कीट्स की नकल करने की आवश्यकता नहीं थी। उनको पाश्चात्य 'रोमांटिक' युग के कवियों के भावों को अपनी भाषा में ढालने की जरूरत नहीं थी। अणु-अणु में उनको परमात्मा का आभास दिखाई पड़ता था, आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रहा था। हर वस्तु में अपनी ही रंगत, अपनी ही शान, अपनी ही बू मालूम पड़ती थी।

उन्होंने पाश्चात्य भावों को अपनी भाषा में ढालने का प्रयत्न नहीं किया। न ऐसे भाव ही कविता में लाने का प्रयत्न किया जो वे स्वयं न समझे हों।

छायावाद में और प्रगतिवाद में वर्तमान समय में ऐसे पाश्चात्य

या विदेशी भावों से कविता सुन्दरी को सजाने का प्रयत्न किया जा रहा है जो कवि महोदय स्वयं ही नहीं समझते। नतीजा यह हुआ कि दिन-दिन भाषा की दुर्दशा होती चली जा रही है। भाव भले ही अच्छा हो मगर जब तक भाव अच्छी तरह समझ में न आवे सुगम भाषा में लिखा नहीं जा सकता। इसीलिए ऐसी अशुद्ध और उद्दंड भाषा प्रयुक्त की गई है कि भाव उसी तरह दब गया है जिस तरह घूँघट (अवगुण्ठन) के कारण किसी सुन्दरी का चन्द्रमुख दबा रहता है। इस "अवगुंठन युग" का एकमात्र कारण साहित्यिक दासता है और इसको जितनी जल्दी समाप्त कर दिया जाय उतना साहित्य और भाषा के लिए अच्छा होगा। इन्हीं कवियों की कविता में जहाँ-जहाँ भारतीय सिद्धान्त की छाप है वहीं भाषा भी सरस और प्राञ्जल हो गयी है।

श्री महादेवी वर्मा की 'यामा'

हमने ऊपर लिखा है, छायावाद की भाषा बिना समझे हुए बौद्धिक निरूपणों से अत्यन्त बोझिल हो गई है। साहित्यिक दासता के कारण बहुत से कवि रहस्यवाद में घुल-मिल नहीं सके। वे उसकी वाह्य रूप-रेखा तक ही सीमित रहे। नवीन शब्दावली, नवीन छन्द, नवीन संगीत-ध्वनि को ही उन्होंने रहस्यवाद की विशेषता मान ली। सचाई के साथ उसमें प्राण न फूँक सकने के कारण उनकी कविता काव्य क्षेत्र में विशेष महत्व नहीं पा सकी। हमारी भाषा इस शैली के कारण उत्तरोत्तर विकृत होने लगी।

परन्तु जहाँ पङ्क होगा वहाँ कमल भी उत्पन्न होगा ही। अगर छायावाद की पंकिलता में कुछ कमल भी खिले हों तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है!

छायावाद की लहर न उठती तो हिन्दी-साहित्य पन्तजी वे कितने ही सुन्दर सरस गीतों से वंचित ही रहता। 'प्रथम रश्मि की ऊँची कल्पना और सु-मधुर संगीत हिन्दी-साहित्य की विभूति कैसे बन पाता। 'बाल बिहङ्गिनि' से यह कौन कह सकता था:—

"तूने ही पहिले बहुदर्शिनि गाया जागृति का गाना
श्रीमुख सौरभ का नभचारिणि गूँथ दिया ताना-बाना।
निराकार तम मानो सहसा ज्योति-पुञ्ज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगज्जाल में धर कर नाम रूप नाना।

\+ + + +

"प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि
तू ने कैसे पहिचाना?
कहाँ-कहाँ हे बाल बिहङ्गिनि
पाया यह स्वर्गिक गाना?"

अगर छायावाद और रहस्यवाद का प्रभाव न होता तो 'बच्चनजी' अपने 'आत्म-परिचय' में किस तरह कह देते:—

"मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिन को छू कर
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ
+ + + +
मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूँ
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूँ
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर
मैं, हाय, किसी की याद लिये फिरता हूँ

कौन कहेगा कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में ऐसे छन्दों और गीति-काव्य के द्वारा जो नवीन क्षेत्र निकला है वह बिलकुल ही उपेक्षा के योग्य है ? कौन कहेगा कि सूक्ष्म की रहस्यानुभूति पर आश्रित 'कामायनी' का साहित्य में कोई मूल्य ही नहीं है ? कौन कहेगा कि 'मंगल-घट' में 'चार पारावार' 'नक्षत्र निपात' 'पुष्पांजलि' 'झंकार' 'कीर' 'चयन' 'संलाप' और 'निर्झर' छायावाद से प्रभावित नहीं हुए ? कौन कहेगा कि रहस्यवाद के रंग में रंगी हुई 'निराला' की निम्न-लिखित स्वर-झंकार में माधुर्य का अभाव है ?

जग का एक देखा तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक, मधुर-स्वर-झङ्कार।
बहु सुमन, बहु रङ्ग, निर्मित, एक सुन्दर हार;
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।
गन्ध-शत अरविन्द नन्दन, विश्व-वन्दन-सार,
अखिल-उर-रञ्जन निरञ्जन एक अनिल उदार।
सतत सत्य अनादि निर्मल सकल सुख विस्तार,
अयुत अधरों में सुसिंचित एक किंचित् प्यार।

तत्व-नभ तम में सकल-भ्रम-शेष श्रम निस्तार,
अलक-मण्डल में यथा मुख चन्द्र निरलङ्कार।
जग का एक देखा तार !!

परन्तु ये सब नियम के अपवाद जैसे यत्र-तत्र दिखायी पड़ते हैं। अधिकतर आधुनिक कवियों ने स्वप्निल भावनाओं को कहीं न कहीं टाँगने के लिए छायावाद को केवल खूँटी समझा है। सुतराँ उन कविताओं में भाव और भाषा का समन्वय भी नहीं हो सका।

छायावाद की शुष्कता को स्निग्ध बनाने का कार्य अत्यन्त कठिन था परन्तु उस कठिन कार्य को महादेवीजी सरीखी कवयित्री ने अत्यन्त सुगम कर दिया।

नवीन शब्दों की सहायता से, पुराने रहस्यवाद में नवीन जीवन डाल कर, अपनी सूक्ष्म-तम भावनाओं को प्रगट करने के लिए, कोमल-तम शब्द चयन करके, रंगीन और अत्यन्त रोचक कल्पनाओं के द्वारा मनुष्य के हृदय को सन्तुष्ट करने का उनका प्रयत्न निःसन्देह प्रशंसनीय है।

'यामा' की भाषा एक सजीव भाषा है। उसने छायावाद की कठोरता, कर्कशता और विषमता को एक ऐसी स्निग्धता से ढँक दिया है जिसकी प्रशंसा बरबस करनी पड़ती है। जहाँ दूसरे छायावादी कवियों की कविताएँ बिरली ही हृदयग्राही होती हैं, वहाँ 'यामा' में अनेकानेक स्थल ऐसे हैं जिनकी भाषा इतनी कोमल और इतनी सुन्दर है कि भाव तुरन्त ही समझ में आ जाता है और कविता पढ़ते ही हृदय में बैठ जाती है।

कविता कौन सी अच्छी होती है और कौन सी बुरी, इस विषय में अनेकानेक वाद-विवाद हो चुके हैं। परन्तु सर्व सम्मति यही रही है कि जिसमें प्रसाद गुण अत्यधिक हो वही कविता सब से सुन्दर मानी जानी चाहिए। मौलाना हसरत मोहानी ने एक जगह लिखा है:—

"शेर दर असल है वही 'हसरत'
सुनते ही दिल में जो उतर जाये।"

वास्तव में जो काव्य सुनते ही हृदय के दूर के कोने तक तुरन्त नहीं पहुँच जाता वह काव्य कहलाने योग्य नहीं। जहाँ तक छायावाद की कविताओं का सम्बन्ध है 'यामा' में कल्पना के सूक्ष्म रंग, भावना की मर्मस्पर्शिता और संवेदना की गहराई का बड़ा सुन्दर समन्वय है। वेदना की गहरी रेखाओं की विविधता, एवं करुणा के अतल गाम्भीर्य के साथ-साथ हृदय की विह्वल प्रसन्नता का एक अजीब दृश्य है जो देखते ही बनता है। राय कृष्णदासजी के शब्दों में "यदि यह अश्रुमुखी वेदना के कणों से भीगी हुई है तो साथ ही आत्मानन्द के मधु से मधुर भी है।" इसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। इस वेदनामयी कविता के दो उदाहरण देने अनुचित न होंगे।

(१)

अपने इस सूनेपन की
मैं रानी हूँ मतवाली
प्राणों का दीप जला कर
करती रहती दीवाली!
मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में!!

(२)

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा !

वास्तव में, आदर्श-सौन्दर्य के एक निरपेक्ष आकार हैं सच्चिदानन्द परमात्मा। प्रकृति में उन्हीं परमात्मा का सौन्दर्य परिस्फुट है। सारी विश्व-प्रकृति उस अदृश्य परमात्मा के सीमा-हीन आनन्द का प्रतीक है। 'प्रतीकता' के कारण सीमा के भीतर असीम की व्यंजना आती है। कवि सर्वदा उसी की ओर इङ्गित करता रहता है। विश्व के समग्र सौन्दर्य और माधुर्य के अन्तस्तल में पहुँच कर कवि अपना संयोग स्थापित कर लेता है और इसी प्रकार उसके साथ विश्व-कवि का अविराम संयोग होता रहता है, क्योंकि प्रकृति के मुग्धकारी चित्रों द्वारा परमात्मा की असीम ज्योति जीवात्मा के असीम अन्तःकरण में समादृत होती है। अपने जीवन को अनन्त में विलीन करने की उसकी इच्छा होती है और जब परमात्मा की आभा उसे दिखलायी पड़ती है तो उसके सामने आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता:—

'जीवन में खोज तुम्हारी है
मिटना ही तुमको छू पाना।'

इन शब्दों में इस बात का कितना अच्छा संकेत है !! वास्तव में, वेदना और आनन्द की सीमा मिली हुई है:—

"चिर ध्येय यही जलने का
ठंडी विभूति बन जाना
है पीड़ा की सीमा यह
दुःख का चिर सुख हो जाना।"

सृष्टि के अन्तर्निहित एकत्व की उपलब्धि के लिए आत्मा को व्यक्तिगत जीवन से विश्व-जीवन में प्रसारित कर देने में ही सच्चा

आनन्द मिल पाता है। आत्मा के वियोग-जन्य दुःख का अन्त तभी होता है जब आत्मा और परमात्मा—व्यक्ति जीवन और विश्व-जीवन—ओत-प्रोत रूप में मिल जाते हैं। और तभी सच्चे आनन्द की अनुभूति होती है।

बूँद का असली ध्येय नदी में मिल कर अपने को नष्ट कर देना ही है !! मिर्जा गालिब का कितना बढ़िया शेर है—

इशरते क़तरा है, दरिया में फ़ना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना !!

संसार में सुख, दुःख, दवा और दर्द एक दूसरे से इतने अधिक मिले हैं कि यह पता नहीं चलता कि उनकी सीमा का कहाँ अन्त होता है ? और जहाँ एक की सीमा (हद) समाप्त होती है दूसरे की सीमा वहीं प्रारम्भ भी हो जाती है। हद से ज्यादा दर्द ही दवा बन जाता है। बूँद (कतरा) को आनन्द ही तभी आता है जब वह नदी या समुद्र में अपने को नष्ट कर देता है।

रंज से ख़ू गर हुआ इंसां
तो मिट जाता है रंज
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी
कि आसाँ हो गयीं

रंज बहुत ही ज्यादा जब हो जाता है तब रंज भी मिट जाता है। स्वामी रामतीर्थ के शब्द कितने मर्मस्पर्शी हैं:—

"सब्र कर, ए दिल सितम, उसके उठा
'उफ़' अगर निकली ग़ज़ब हो जायगा
रंज की जब इन्तहा हो जायगी
चैन का आग़ाज तब हो जायगा।"

स्वर्गीय आनन्द तभी आता है जब आत्मैक्य बोध होता है। जब अपना ही रूप सभी जगह ज्ञात होता है—और, जब बूँद और सागर में भी कोई भेद नहीं रह जाता। जिगर साहब कहते हैं—

"जब देख न सकते थे तो
दरिया भी था क़तरा
जब आँख खुली क़तरा भी
दरिया नज़र आया।"

तभी तो महादेवीजी ने लिखा है:—

"बिखर कर कन-कन के लघु-प्राण
गुनगुनाते रहते यह तान,
अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।"

अमरता जीवन का ह्रास है या नहीं, मृत्यु जीवन का चरम विकास है या नहीं—जहाँ तक आत्मैक्य-बोध से सम्बन्ध है इसमें दो मत नहीं हो सकते। 'रत्नाकरजी' के 'उद्धव शतक' में जब उद्धव ने गोपियों को यही उपदेश दिया कि 'आत्मा को परमात्मा में लीन करो तभी तो आनन्द की प्राप्ति होगी', तो गोपियों ने इस आदेश को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि एक बूँद के सागर में, गिर पड़ने से सागर की 'सागरता' में घटा-बढ़ी तो क्या होगी ? मगर एक बूँद की 'बूँदता' व्यर्थ में नष्ट हो जायगी। रत्नाकरजी का यह विचार हमारे साहित्य में नितान्त मौलिक है—

"कान्ह दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आय,
धारे पन फेरन कौं मति ब्रजवारी की।
कहै 'रत्नाकर' पै प्रीति रीति जानत ना,
ठानत अनीत आनि नीति लै अनारी की।
मान्यौ हम कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यो जो तुम,
तौ हू हमें भावत न भावना अन्यारी की।
बिगरि न जै है कछु बारिधता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद विवस विचारी की।

क्या अच्छा हो अगर बूँद अलग भी रहे और सागर से

मिलती भी रहे !! बूँद की 'बूँदता' भी बनी रहे और उसका अन्तिम ध्येय सागर के पास पहुँचना भी सफल हो जाय !! क्या यह संभव भी है ? महादेवीजी का ध्येय यही है । इसी में वास्तविक आनंद है !!

"चिर मिल-नविरह-पुलिनों की,
सरिता हो मेरा जीवन।
प्रति-पल होता रहता हो,
युग कूलों का आलिङ्गन !
इस अचल क्षितिज-रेखा से,
तुम रहो निकट जीवन के !
पर तुम्हें पकड़ पाने के,
सारे प्रयत्न हों फीके !!"

दिवस रजनी का मिलन संध्या समय ही होता है। महादेवीजी कहती हैं कि उनका जीवन वास्तव में सांध्य-गगन-सा ही है।

प्रिय ! सांध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण—अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीत राग
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन !
साधों का आज सुनहलापन
घिरता विषाद का तिमिर सघन
संध्या का नभ से मूक मिलन
यह अश्रुमती हँसती चितवन !
लाता भर श्वासों का समीर
जगसे स्मृतियों का गन्ध धीर
सुरभित हैं जीवन—मृत्यु—तीर
रोमों में पुलकित कैरव—वन !

अब आदि—अन्त दोनों मिलते
रजनी-दिन-परिणय से खिलते
आँसू मिस हिम के कण ढुलते
ध्रुव आज बना स्मृति का चल-क्षण !

ऐसे सांध्य-गगन जीवन में सुख-दुःख दोनों एक समान हो गये हैं !

दुख में जाग उठा अपनेपन का सोता संसार
सुख में सोई री प्रिय सुधि-सी अस्फुट सी झङ्कार
हो गये सुख-दुःख एक समान ! !

दुःख भरे—सागर में उत्ताल तरंगों के बीच में भी प्रिय की अस्फुट-सी झङ्कार जब कभी आ जाती है तो हृदय को आनन्दित कर देती है। विरह की पीड़ा भी मधुर ज्ञात होती है; उसको सहन करने की शक्ति दे देती है। इसी लिए इस वियोग-वह्नि में भी मनुष्य जलते रहने पर भी जीवित रहता है:—

इन उत्ताल तरङ्गों पर,
सह झञ्झा के आघात
जलना ही रहस्य है, बुझना
है नैसर्गिक बात !

हवा के झोंकों के बीच में बुझ जाना स्वाभाविक बात है, जलता रहना अस्वाभाविक रहस्यमय है ! इसी विचार को एक उर्दू शायर ने दूसरी तर्ज में मगर अच्छे ढंग से प्रकट किया है। वह कहता है—श्वास प्रतिश्वास से (साँस के आने जाने से ही) दिल का दाग जल रहा है। देखो तो हवा में चिराग़ जल रहा है !

"नफ़स् की आमदो शुद्
दिल का दाग़ जलता है
खुदा की शान हवा में
चिराग़ जलता है !"

❀ ❀ ❀ ❀

महादेवीजी की 'यामा' से ये उद्धरण देने का तात्पर्य केवल यह है कि 'यामा' की भाषा ऐसी नहीं है जो समझ में न आवे। भाव भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें समझने में बुद्धि को बहुत दौड़-धूप करनी पड़े। जन्म, मृत्यु, मिलन विच्छेद, मानव के सदा से सहचर बने हैं।

भारतीय दर्शन "वसुधैव कुटुम्बकम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अहम् ब्रह्मोऽस्मि" के सिद्धांत का सदा से ही प्रतिपादन करता आता है। हमारे यहाँ प्रकृति परमात्मा की सदा से ही बाल रूप मानी गयी है। प्रकृति इसी लिए कविता का प्रधान विषय बनी रही है। कवियों ने लता-पादपों के अंतर की वेदनाओं का अनुभव किया है। क्षुद्र बालुका-कण में असीम विश्व के दर्शन किये हैं। मेघ को दूत बनाकर नायक की प्रियतमा के पास ऐसे संदेश भिजवाये हैं जो संसार के साहित्य में अमूल्य हैं। वृक्षों के प्रशांत अवयव में, वायु-प्रवाह की सन-सनी में और जलधि के अविराम नर्तनों में सजीवता का सदा ही अनुभव किया गया है। और इसलिए पत्रों की मर्मर-ध्वनि में, परिवर्तनशील नभोमण्डल में, मेघों के गंभीर गर्जन में, तारक-राशि की दीप्ति में, बसंत रजनी में जब महादेवीजी ससीम और असीम का खेल दिखाकर एक सजीव मूर्ति प्रस्तुत करती हैं तो कविता की मधुरिमा और भी बढ़ जाती है। 'यामा' की रचनाओं में आवेग की प्राणस्पर्शिता है और कल्पना की अबाध गति। और इसका एक मात्र कारण यह है कि 'यामा' में साहित्यिक दासता का अभाव है। वर्डस्वर्थ, शैली और कीटस् की नकल में महादेवीजी ने कम समय नष्ट किया है। 'लूसी ग्रे', 'डैफोडिल', 'स्काई लार्क' और 'क्लाउडस्' इत्यादि की छाप उनकी कविता में न होकर अधिकतर भारतीय दार्शनिक सिद्धांत और प्राचीन रहस्यवाद की परिपाटी ही अपनायी गयी है। कृत्रिम भाषा का जो छायावाद में अधिकाधिक प्रयोग हुआ है वह भी 'यामा' में दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा कम ही है।

यह बात नहीं कि अँग्रेज़ी कवियों की छाप का बिलकुल ही 'यामा' में अभाव हो। सांध्यगगन के, (संध्या के) स्थान पर बार-बार विवरण में कहीं-कहीं शैली Shelly के Alastor के निम्नलिखित पद्य की छाप प्रतीत होती है:—

Twilight, ascending slowly from the East
Entwined in duskier wreaths her braided locks,
O'er the fair front and radiant eyes of day.

परन्तु जैसे-जैसे कविता बहती गई है, वैसे-वैसे ही भारतीय वातावरण में परिणत होती चली गयी। कितना सुन्दर प्रतीत होता है—

यह संध्या फूली सजीली!
आज बुलाती है विहगों को नीड़ बिन बोले!
रजनी ने नीलम मंदिर के वातायन खोले!
एक सुनहरी उर्म्मि क्षितिज से टकराई बिखरी
तम ने बढ़कर बीन लिए वे लघुकण बिन तोले।
अनिल ने मधु मदिरा पीली!

❀ ❀ ❀ ❀

भाती तम की मुक्ति नहीं, प्रिय रागों का बंधन।
उड़-उड़ कर फिर लौट रहे हैं, लघु उर में स्पन्दन।
क्या जीने का मर्म यहाँ मिट-मिट सबने जाना,
तर जाने को मृत्यु कहाँ, क्यों बहने को जीवन।
सृष्टि मिटने पर गर्वीली!

कवि शैली का Ode To Night एक बड़ा प्रसिद्ध गीत काव्य है जो इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

Wrapt thy form in a mantle gray star inwrought.

इस पद्य की छाया स्थान-स्थान पर 'यामा' में दृष्टिगोचर होती है। रात्रि के मिलने के लिए कवि शैली अत्यन्त कातर हो जाता था। महादेवीजी भी कहने लगती हैं—

आ मेरी चिर-मिलन यामिनी!
तम मथि घिर आ धीरे-धीरे
आज न सज अलकों में हीरे
चौंका दें जग श्वास न सीरे
हौरे झरें शिथिल कबरी में
गूँथे हर शृङ्गार कामिनी!

❀ ❀ ❀ ❀

अपलक हैं अलसाये लोचन
मुक्ति बन गये मेरे बन्धन
है अनन्त अब मेरा लघु क्षण
रजनि! न मेरी उर कम्पन से
आज बजेगी विरह-रागिनी!

विचार शैली का ही है परन्तु 'यामा' में एकदम भारतीय रंग में रँगा हुआ है। star-in-wrought का स्थान-स्थान पर आभास मिलता है।

(१) तारकित नभ सेज से वे
रश्मि अप्सरियाँ जगातीं
अगरु गन्ध बयार ला-ला
बिकच अलकों को बसातीं

(२) तारकमय नव वेणीबंधन

परन्तु जिस प्रकार से वर्णन किया गया है, आद्योपान्त भारतीय ढङ्ग ही है।

लोकमान्य तिलक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "ओरायन (Orion) में शिवमहिम्नस्तोत्र को एक स्थान पर बहुत प्राचीन शिव-स्तोत्र

बताया है। यह स्तोत्र रहस्यवाद से ओत-प्रोत है। हमारे यहाँ शिव और काली की मूर्तियाँ रहस्यवाद की सजीव प्रतिमाएँ हैं। शिव-महिम्न में बताया गया है कि यह विश्व ही शिव-स्वरूप है। शिव और विश्व में कोई भेद नहीं है। शिव का सिर ही आकाश है। उस आकाश में जो नभगङ्गा है वही शिव के सिर की गंगा है, जो शुभ्र तारागण के गुणित फेनों के उद्गम के कारण और भी शुभ्र और उज्ज्वल प्रतीत होती है। इतनी बड़ी नभ-गंगा सारे संसार को चारों ओर से घेरे हुए है, परन्तु शिव के सिर में एक बूँद के समान ही प्रतीत होती है। हे शिव तुम्हारा यह विराट् शरीर और कितना विराट् है ?

वियद्व्यापी तारा-गण-गुणित-फेनोद्गम रुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषत लघु दृष्टः शिरसि ते।

इस नभ-गंगा के दृश्य का भारतीय कवियों ने कई स्थान पर सुन्दर वर्णन किया है। नभ-मंडल को अधिकतर एक अपार नीला समुद्र माना है जिसमें ताराओं को इस समुद्र की लहरों से उठता फेन बतलाया गया है। 'साहित्य दर्पण' की यह पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है:—

"नेदं नभो-मंडलमम्बुराशि
नैनाश्च तारा नव फेन भंगाः"

भारतीय साहित्य में इस दृश्य का इतना रोचक वर्णन मिलता है जो दूसरे साहित्य में कम मिलता है। महादेवीजी ने भी इसी परिपाटी को अपनाया है। स्थान-स्थान पर इसका आभास प्रतीत होता है।

(१)

शृङ्गार कर ले री सजनि !
नव-क्षीर-निधि की उर्मियों से रजत झीने मेघ सित;
मृदु फेनमय मुक्तावली से तैरते तारक अमित,
सखि सिहर उठती रश्मियों का पहिन अवगुंठन अवनि

(२)

रूपसि तेरा घन केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल-कोमल
लहराता सुरभित केश-पाश !
नभ-गङ्गा की रजत धार में
धो आयी क्या इन्हें रात ?

तात्पर्य यह है कि 'यामा' में भारतीय भावों का ही अधिकतर समावेश है। जहाँ भारतीय भाव नियम हैं, विदेशीय भाव नियम के अपवाद ही हैं। भाषा सरल, सुबोध है और कोमलकांत पदावली में ही सारा गीतिकाव्य लिखा गया है।

महादेवीजी छायावाद के कवियों की प्रतिनिधि और उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। भाषा और भाव का इतना सुन्दर समन्वय और दूसरे छायावादी कवि की कृति में नहीं मिलेगा।

'यामा' का छायावाद

जब 'यामा' में अधिकतर प्राचीन परिपाटी के रहस्यवाद को ही अपनाया गया है तो प्रश्न यह होता है कि आधुनिक छायावाद का ग्रन्थ उसको किस तरह कहा जा सकता है ? वास्तव में कोई ऐसी बात भी उस ग्रन्थ में प्रतीत नहीं होती। अगर नवीन शब्दावली में, नवीन छंदों में और नवीन गीति-काव्य में ही रहस्यवाद को वर्णन करना छायावाद ग्रन्थ है तो यामा अवश्य छायावादी ग्रन्थ है। हाँ, 'आधुनिक कवि' की भूमिका जो गद्य में कवयित्री ने अपने 'दृष्टिकोण' को प्रकट करने के लिए लिखी है, वह अवश्य छायावाद से ओत-प्रोत है। जहाँ हम 'यामा' का पद्य और गीति-काव्य की भाषा और भाव समझ लेते हैं, वहाँ गद्य में लिखी भूमिका समझ में नहीं आती ! क्या अच्छा होता कि यह दृष्टिकोण—यह भूमिका, शुद्ध संस्कृत-भाषा में ही लिखी जाती !!

आर यह दृष्टिकोण क्या है ? एक अजीब तर्क से छायावाद को सब के ऊपर बैठाने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ गद्य की भाषा में कृत्रिमता की झलक है वहाँ तर्क की शैली तो अधिकाधिक कृत्रिम हो गई है। "ठोक-पीटकर वैद्यराज", "मार-मार कर हकीम" और "मान न मान मैं तेरा महमान" वाली कहावतें चरितार्थ की गयी हैं। इस अनुपयुक्त और असंगत तर्क का भाषा-भाषियों पर क्या असर हो सकता है यह कवयित्रीजी स्वयं समझ सकती हैं। भाव जहाँ कुहेलिका के समान नीचे के आकाश को आवृत कर रखता है, वहाँ अमृत-वर्षण के आनन्द की आशा करना व्यर्थ है ! यदि हम कहें कि 'यामा' के छायावाद का प्रस्फुटन 'आधुनिक कवि' में ही हुआ है तो अत्युक्ति न होगी।

'अवगुंठनयुग' का कुछ तो प्रभाव पड़ना ही था ! 'यामा' के नाम के गुण का कुछ तो परिचय प्राप्त करना ही था ! हमारे साहित्य में पुस्तकों का नाम इस तरह रखा जाता था कि नाम सुनते ही पुस्तक के विषय का अनुमान हो जाता था। 'रामचरित-मानस' के नाम से ही हम समझ सकते हैं कि उसका विषय क्या है। मेघदूत, कुमार-सम्भव, किरातार्जुनीय, कादम्बरी, नैषध-चरित, राज-तरंगिणी में जो विषय वर्णन किये गये हैं वे ऐसे नहीं हैं जिनकी सूचना उनके शीर्षक से न मिल पाती हो। शिवाबावनी, जगद्विनोद, रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया, भाषा भूषण, रामचन्द्रिका इत्यादि के नाम ऐसे हैं जिनसे पुस्तकों के पाठ्य-विषय का पता पठन के पूर्व भी लग जाता है। परन्तु हिन्दी-साहित्य के 'अवगुंठन-युग' में नामकरण संस्कार भी छाया के अन्तर्गत ही करना आवश्यक माना गया है।

'मंगल-घट' यह समझ कर लिया कि किसी मंगलमय अवसर पर घट-स्थापना का काव्य में वर्णन किया गया होगा; परन्तु वह गुप्तजी की छोटी-मोटी रचनाओं का संग्रह ही निकला। प्रभात-फेरी' में न प्रभात का ही दृश्य है न स्वयंसेवक की प्रभात-फेरी का।

नरेन्द्रजी की कविताओं का वह संग्रह है। होली के अवसर पर होली के कुमकुमों का विचार करते हुए "कुंकुम" उठाया तो उसमें प्रथम पंक्ति ही जेल की चक्की चलाने के विषय में थी। नवीनजी की कविताओं का संग्रह है। 'अनामिका' देखी तो 'अंगुष्ठाभ्यां नमः' प्रत्यक्ष दिखाई देता था। मध्यमा, कनिष्ठका, तर्जनी और अनामिका का कहीं पता न था। यह निरालाजी की कविताओं का संग्रह था। कितना नवीन युग है ? नाम बड़े और दर्शन थोड़े; अथवा ऊँची दूकान फीका पकवान !! हर पुस्तक, हर कविता, इस युग में पर्दे में रहना ही पसन्द करती है। शेख 'जुरअत' का शेर कितनी अधिक समीचीन प्रतीत होता है:—

"उस पर्दानशीं से कोई कैसे बर आये
जो ख्वाब में भी आये, तो मुँह ढाक कर आये"

ऐसे युग में यदि 'यामा' का नामकरण हुआ हो तो आश्चर्य की कौनसी बात है ? 'याम' शब्द से 'यामा' बना दिया गया। शायद बहुवचन होगा। 'रामः रामौ रामाः।" इसी तरह "यामः यामौ यामाः।" अब प्रथम याम का नाम 'नीहार' पड़ा; द्वितीय याम का नाम 'रश्मि' हुआ, तीसरे का नाम 'नीरजा' और चौथे का 'सांध्य-गीत' रखा गया। नाम अलग-अलग हैं; परन्तु लगभग चारों में एक ही विषय हैं। शब्द भी एक से हैं। भाव भी एक से हैं। सिवाय इन नामों के और कहीं छायावाद का दिग्दर्शन नहीं होता। चारों में स्थान-स्थान पर 'पीड़ा' बिखरी हुई प्रतीत होती है। पीड़ा का इतना अधिक साम्राज्य है कि यदि छायावादी समाज में महा-देवीजी को मूर्तिमती पीड़ा माना जाता तो वह भी अनुपयुक्त नहीं होता। उनका जन्म ही पीड़ा और वेदना में हुआ है—

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !
जीवन विरह का जलजात !

ऐसी पीड़ा दूसरा और कौन पाल सकता है ?

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा ?

मगर यह पीड़ा आनन्दमयी पीड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वर्गीय पीड़ा है। इसमें रुदन नहीं—चीत्कार नहीं—भय नहीं—कोलाहल नहीं। रस है, आनन्द है, संगीत है, शोभा है, ऐश्वर्य है। ऐसी पीड़ा क्यों न मनोमोहक होगी ? पीड़ा होते हुए भी 'यामा' में सौन्दर्य ही सौन्दर्य बिखरा दिखाई देता है। सौरभ का केश जाल, मर्मर का मधु सङ्गीत, रश्मियों की रजत धारा, ज्योत्सना का रजतपारावार, अवनि अम्बर का रुपहलापन, सुनहले आँसुओं के हार, मकरन्दपगी केसर पर जीती-जागतीं मधुपरियाँ, संध्या के शुभ्र मुख पर किरणों की फुलझड़ियाँ, चन्द्रमा की चाँदी की थाली, मरकत का सिंहासन, नभ की दीपावलियाँ, चाँदनी का शृङ्गार, कुन्द-कुसम के मधुपुञ्ज, नीलम रज भरे चूनरी के अरुण-पीले रंग, नव अशोक का अरुण राग, मधुर रजनीगन्धा का पराग, मृदु पराग की रोली, अरुण सजल पाटल की वर्षा, बालशिखी-मन में मधुर संगीत की ध्वनि, रजत श्याम तारों की शुभ्रजाली, मेघों का मतवालापन, मन्द मलयानिल के उच्छ्वास, छलकता मधु का कोष, शतरंगों के इन्द्र-धनुष, बुद्बुद् की लड़ियों में गूँथा हुआ श्यामल केशकलाप, तारकमय नववेणी-बंधन, शशि का नूतन शीश-फूल, मधुर-मधुर नूपुर-ध्वनि, अलिगुञ्जित पदमों की किंकिणि, छवि का मकरंद बरसाते हुए सजल इन्द्रमणि से जुगनू, नीलम मन्दिर की हीरक प्रतिमा-सी चपला और छिन्न मुक्तावलियों के अभिराम बन्दनवार—एक से एक बढ़ कर सुन्दर और रंगीली कल्पनाओं से 'यामा' का कलेवर सजाया गया है। पढ़ते-पढ़ते हृदय आनन्द से पूरित हो जाता है। महादेवीजी ने प्रकृति के रंगीन दृश्यों को और

भी रंगीन बना कर 'छायावाद' को लोक-प्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। यह कार्य आसान नहीं है; अत्यन्त कठिन है और इस कठिन कार्य में वे अत्यन्त सफल हुई हैं, इसमें संदेह नहीं है।

परन्तु यह बात भी सत्य है कि रहस्यवाद का सुन्दर पक्ष ही 'यामा' में लिया गया है। दूसरे पक्ष का किंचित् मात्र भी आभास नहीं मिलता। वही वृक्ष सैकड़ों वर्ष एक तरह ही खड़े रहते हैं। शीत, गर्मी, ओस, धूप, लू, तुषार, ओले और वर्षा, आँधी और तूफान सभी एक ही भाव से सहते रहते हैं; परन्तु उनकी वेदनाओं का इतने बड़े ग्रंथ में कहीं भी इशारा नहीं है। 'यामा' में अशोक, वकुल, मौलश्री, हरश्रृंगार, गुलाब, रजनी-गन्धा, पारिजात पुष्पों का ही जिक्र है। उन छोटे-छोटे फूलों का वर्णन किंचित् मात्र भी नहीं है जिनमें रूप नहीं, गंध नहीं, रंग नहीं, आकर्षण शक्ति नहीं। आक और अड़ूसा, धतूरे और कनेर के वृक्षों की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया गया। कंटकित रसाल का वर्णन है, मगर झरबेर की परवाह नहीं की गई, जो अपना शरीर काँटों से आहत कर कर के भी श्रद्धानुसार मिष्ट फल कुछ-न-कुछ दे ही देते हैं। पिक, चातक, मत्त मयूर और मधुप का बार-बार वर्णन है; मगर उन खगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है जो बोलना नहीं जानते, परन्तु जिनकी मूक निश्वास संसार का हृदय दहलाने की शक्ति रखती है। इन्हीं कारणों से 'यामा' में अत्यन्त सौंदर्य होते हुए भी वह मादकता, वह तल्लीनता नहीं है जो रहस्यवादी साधु-संतों के संगीत में हुआ करती है। 'यामा' में अपार ऐश्वर्य है। ऐशो-आराम की सारी सामग्री है। हीरा, पन्ना, मोती, नीलम, माणिक्य विद्रुम, कनक और रजत, यत्र-तत्र जड़े हुए हैं, परन्तु लोहा तो क्या, पीतल और ताँबे का कहीं भी नाम नहीं। प्रतीत यह होता है कि मध्य-वर्ग की सामग्री भी 'यामा-संसार' से जान बूझ कर निकाल कर फेंक दी गई है। कल्पना

भी सम्पन्न कुल के व्यक्तियों के समझने की वस्तु हो गई है। जिसे हीरा, मोती, प्रवाल, कनक और रजत के दर्शन नहीं हुए वह शिक्षित परन्तु दरिद्र पुरुष 'यामा' की कल्पना का मूल्यांकन कर क्या सकता है? अगर इस प्रकार कल्पना ही सीमित रह गई हो तो आश्चर्य नहीं। एक बार जुगनू को हीरा के कणों में देखा जाता है, द्वितीय बार कनक के फूल बन जाते हैं, तृतीय बार वही जुगनू रजत में परिवर्तित हो जाते हैं। कविता में यह दोष भले ही हो परन्तु संगीत-माधुरी और 'यामा' की सरस मादकता में इस बात का हमें पता भी नहीं चलता।

वास्तव में 'यामा' में साहित्यिक सामन्तिक प्रवृत्ति (Aristocratic trend of literature) प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होती है। इसीलिए कदाचित् 'आधुनिक कवि' की भूमिका में हिन्दी-साहित्य की उस धारा को उपेक्षा की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है जिसको आज-कल 'प्रगतिवाद' का नाम दिया जाता है। और ऐसा क्यों न हो? प्रियतम की याद का मूल्यांकन जहाँ 'हीरा' में किया जाय तो वहाँ अपना जीवन कम से कम सुवर्ण तो समझा ही जाना चाहिए:—

हीरक सी वह याद
बनेगा जीवन सोना,
जल-जल तप-तप किन्तु
खरा इसको है होना!

इस हीरा और सोने के जीवन में यदि दरिद्र नारायण की सुधि न रहे तो दोष क्या है? और प्रगतिवाद को ठुकराने का प्रयत्न किया जाय तो अनुचित क्यों हो? महादेवीजी के अनुसार "भविष्य में प्रगतिवाद की जो दशा होगी उसकी कल्पना अभी समीचीन नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि यह श्रमिकों की वाणी में बोलने वाली कविता मध्यमवर्ग के कण्ठ से उत्पन्न हो रही है। इसे समझने के लिए उसी वर्ग की पृष्ठ भूमि चाहिए।"

प्रगतिवाद से आपको निराशा है, परन्तु छायावाद सदा इसी प्रकार सिंहासन पर बैठा रहेगा, ऐसा आपका दृढ़ विचार ह। प्रगतिवाद को हम ऐसी निराशा की दृष्टि से नहीं देखते, न देखना उचित ही है। जहाँ छायावाद का विकास बहुत कुछ हो चुका है, प्रगतिवाद का अभी शैशव-काल प्रारम्भ ही हुआ है। छायावाद के मानसिक शून्यवाद ने जितना भारतवर्ष और भारत की राष्ट्र-भाषा का अहित किया है, वह किसी से छिपा नहीं है। हमें आशा है कि छायावाद द्वारा की हुई हानि को प्रगतिवाद का उज्ज्वल भविष्य बहुत शीघ्र ही पूरा कर देगा। और तभी महावीरप्रसाद द्विवेदी स्कूल के यथार्थवाद का स्वप्न सत्य हो सकेगा। यथार्थवाद का वास्तविक उद्देश्य ही तो श्रम और श्रमार्जित धन का सुन्दर सामंजस्य स्थापित करके देश को उन्नतावस्था पर पहुँचाने का है। और वह प्रगतिवाद ही का विषय है। दूसरे शब्दों में भौतिकवाद और यथार्थवाद के सुन्दरतम रूप को ही प्रगतिवाद कहा जाता है। संसार के नियम के अनुसार प्रगतिवाद की सुन्दर कविता मध्य वर्ग के कण्ठों से ही उत्पन्न होकर श्रमिकों को न्याय दिलाने में सफल होती रही है और संसार की सहसा परिवर्तन की स्थिति को देखते हुए यह आशा करना भी अनुचित नहीं कि छायावाद को त्याग कर शीघ्र ही महादेवीजी भी प्रगतिवाद की वीणा लेकर अपने नवीन-स्वरों में नये संगीत की रचना करके हिन्दी-भाषा-भाषी संसार को अनुगृहीत करने में सफल होगीं।

भाषा-प्रवाह

अभी तक हमने यामा में भाव और भाषा के सुन्दर समन्वय का ही विवेचन किया है। अब भाषा प्रवाह और भाषा-दोषों पर भी एक दृष्टि डालनी उचित होगी। कविता में सुन्दर प्रवाह बहुत आनन्द देता है इसके लिए समशक्ति शब्दों के एक तार की आवश्यकता है। कविता के स्वर-माधुर्य का प्रभाव वाग्यन्त्र और

श्रवणेन्द्रिय पर जब तक नहीं पड़ता तब तक कविता का उद्देश्य भी सफल नहीं होता। रस के अनुसार भाषा के शब्द कोमल अथवा कर्कश होना चाहिए। कोमल शब्दों की भरमार में एक भी कर्कश शब्द आ जाने से भाषा का प्रवाह रुक जाता है। रस-भंग हो जाता है। उसी प्रकार कर्कश शब्दों के मध्य में एक भी कोमल शब्द आ जाने से प्रवाह में कमी होती है। खड़ी बोली के बीच में एक ब्रजभाषा का कोमल शब्द अथवा ब्रजभाषा के कोमल शब्दों के बीच में खड़ी बोली का कर्कश शब्द भाषा के प्रवाह को बिगाड़ देता है। उसी तरह शुद्ध संस्कृत पदावली में एक भी उर्दू का शब्द प्रवाह के रोकने में सफल हो सकता है। अगर कठोर शब्दों के अनन्तर कोमल पदावली लानी होती है तो धीरे-धीरे उतरना पड़ता है। एक दम उतरने में ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा की धारा अपने प्रवाह को छोड़ कर एक ऐसे गड्ढे में गिर गयी है जो सहसा सतह के नीचे धसक जाने से बन गया है। एक उदाहरण देखिए—

निर्झर

प्लावित कर पृथ्वी के पर्त्त
समतल कर बहु गह्वर गर्त्त
दिखला कर आवर्त्त विवर्त्त
आता हूँ आलोड़ विलोड़
निकल चला मैं पत्थर फोड़

यहाँ 'पत्थर फोड़' में भाषा को फोड़ कर निकल भागने का आभास प्रतीत होता है।

सौभाग्य से, 'यामा' में इस तरह के भाषा-प्रवाह-दोष कहीं पर भी दृष्टि-गोचर नहीं होते।

अब दो एक उदाहरण खड़ी बोली के शब्दों के मध्य ब्रजभाषा के शब्द आने के देखिए।

नवीनजी के 'कुंकुम' में 'अपूर्ण यात्रा' पर अच्छी कविता है। एक स्थान पर है—

मचल गया यह मनुआ भोला
तब दर्शन पाने को—
चन्द्र-खिलौने से अथवा फिर
अपना मन बहलाने को।

'मनुआ भोला' बुरी तरह भटका हुआ प्रतीत होकर भाषा प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करता है। 'मचल गया मन मेरा भोला' कर लीजिए तो कुछ अच्छा लगे। और "मचल गया मेरा मन चंचल" कर लेते तो कोई भी दोष नहीं रह जाता।

'जादूगरनी' में हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने लिखा है—

झीनी-झीनी मधुर बदरिया में
छिप कर मुसकाती है
जग चकोर की आँखों को
तू आकुलता बन जाती है।

यहाँ भाषा की दृष्टि से 'बदरिया' कानों को खटकता है। उच्चारण में भी "बदरि" करना पड़ेगा। अगर पहिली दो पंक्तियाँ इस तरह हो जातीं—

झीने-झीने मेघ-पुंज में
छिपकर तू मुसकाती है।

तो बेहतर होता। चारों पंक्तियाँ भी एक-सी हो जातीं।

'यामा' में भी ऐसे दोष यत्र-तत्र हैं। 'हौले' शब्द का हर स्थान पर इसी प्रकार प्रयोग किया गया है। यथा 'हौरे झरें शिथिल कवरी में गूँथे हरश्रृङ्गार कामिनी।" और भी "मुखर पिक! हौले-हौले बोल!" 'धीरे-धीरे बोल' में आपत्ति क्या थी? एक स्थान पर लिखा है—

पोंछती जब होले से वात
इधर निशि के आँसू अवदात
उधर क्यों हँसता दिन का बाल
अरुणिमा के रंजित कर गाल !

यहाँ 'हौले' की जगह "धीरे" बेहतर रहता क्योंकि सारा वातावरण 'धीरे' शब्द का ही है। यह नहीं कि ये शब्द अशुद्ध हैं। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर ही शोभा देता है। उपयुक्त वातावरण होना चाहिए:—

शून्य नभ में तम का चुम्बन
जला देना असंख्य उडुगण
बुझा क्यों उनको जाती मूक
भोर ही उजियाले की फूँक

भोर और 'उजियाले की फूँक' से भाषा-प्रवाह बिगड़ता है।

जैसे 'फूँक' का प्रयोग किया है वैसे ही 'फीके' शब्द का भी अनुपयुक्त स्थानों में अशुद्ध प्रयोग हुआ है। यथा:—

(१) पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके

(२) यह मुरझाये फूलों का
फीका सा मुसकाना है

(३) चुका पायेगा कैसे बोल !
अञ्चल में मधु भर जो लातीं
मुस्कानों में अश्रु बसातीं
बिन समझे जग पर लुट जातीं
उन कलियों को कैसे
ले यह फीकी स्मित बेमोल !

(४) यह दोनों दो ओरें थीं
संसृति की चित्रपटी की
उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी!
(५) निराशा का सूना निर्माल्य
चढ़ाकर देखा फीका प्रात

'फीका' और 'फीकी' अनुपयुक्त स्थानों पर हैं; और "ओरें" अशुद्ध प्रयोग है। दोनों 'ओर' अथवा दोनों 'छोर' ही कहे जाते हैं। परन्तु महादेवीजी ने दोनों 'छोरें' का भी प्रयोग किया है। यथा:—

"हों मेरे लक्ष्य-क्षितिज की
आलोक तिमिर दो छोरें"

शुद्ध संस्कृत शब्दों के मध्य में 'यामा' में कुछ 'उर्दू' शब्दों का सहसा आकर, प्रवाह की अवाध गति को, रोकने के दृश्य को देखिए:—

(१) कुमुद दल से वेदना के दाग़ को
पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ
(२) जो रहता तम के मानस में
ज्यों पीड़ा का दाग
आलोकित करता दीपक सा
अन्तर्हित अनुराग
(३) छोड़कर लघु-वीणा के तार
शून्य में लय हो जाता राग
विश्व छा लेती छोटी आह
प्राण का बंदीख़ाना त्याग
(४) फैला अपने मृदु स्वप्न पंख
उड़ गयी नींद निशि क्षितिज पार

अधखुले दृगों के कंज—कोष
पर छाया विस्मृति का खुमार

(५) हँस उठे छूकर टूटे तार
प्राणों में मँडराया उन्माद
व्यथा मीठी ले प्यारी प्यास
सो गया बेसुध अन्तर्नाद
घूँट में थी साक़ी की साध
सुना फिर-फिर जाता है कौन ?

बच्चन की 'मधुशाला' और 'मधुबाला' में भी साक़ी, खुमार, दाग शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है, परन्तु वहाँ वातावरण ही उन शब्दों का था। यहाँ पर ये शब्द वातावरण की अनुपस्थिति में बिलकुल अलग दिखाई देते हैं:—

अशुद्ध प्रयोग

अब कुछ उदाहरण अशुद्ध प्रयोगों के भी दिखलाना अनुचित न होगा। इतनी बड़ी पुस्तक में अशुद्ध प्रयोग निकल आना आश्चर्य नहीं:—

(१) मैं आज चुपा आई चातक
मैं आज सुला आई कोकिल
कंटकित मौलश्री हरश्रृंगार
रोके हैं अपने श्वास शिथिल

'चुप कर आयी' के स्थान में 'चुपा आयी' बिलकुल अशुद्ध प्रयोग है।

(२) वेदना गगन से रजत ओस
चूचू भरती मन कञ्ज कोष
अलि सी मँडराती विरह पीर

'चू चू' में एक शब्द-शक्ति (ध्वनि-शक्ति) का आभास है जो अनुपयुक्त है। विरह की पीर सा भँवर का मँडराना एक अजीव प्रयोग है !!

(३) झिप-झिप आखें कहती हैं
यह कैसी है अनहोनी
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँखमिचौनी !

'झपक-झपक' के स्थान में 'झिप-झिप' का प्रयोग ठीक नहीं प्रतीत होता।

(४) विधु की चाँदी की थाली
मादक मकरन्द भरी सी
जिसमें उजियारी रातें
लुटतीं घुलतीं मिसरी सी

"मिसरी सी लुटतीं घुलतीं" का प्रयोग चिन्त्य है। मिश्री किस प्रकार लुटती है ?

(५) तारों में प्रतिबिंबित हो
मुस्काएँगी अनन्त आँखें
होकर सीमाहीन, शून्य में,
मँडराएँगी अभिलाषें

'अभिलाषाओं' के स्थान में 'अभिलाषें' कर दिया गया है। इसी प्रकार 'अप्सराओं' का 'अप्सरियाँ' कर दिया गया है।

(६) निर्घोष घटाओं में छिप
तड़पन चपला की सोती
झंझा के उन्मादों में
घुलती जाती बेहोशी

प्रबल वायु के झकोरों से बेहोशी क्या, कोई अन्य वस्तु भी

नहीं घुल सकती, उड़ अवश्य जायगी, अगर वास्तव में वे झकोरे । परन्तु झकोरों के उन्मादों से तो कोई वस्तु नहीं घुल सकती। और यदि बेहोशी घुल भी जाय तो शायद होश आ जायगा। जो यहाँ असङ्गत होगा।

(७) अनबींधे मोती यह दृग के
बँध पाये बन्धन में किसके ?
पल-पल बनते पल-पल मिटते
तू निष्फल गुथ-गुथ हार न कर ?
कहता जग दुख को प्यार न कर

"तू निष्फल आँसुओं को हार में गूँथ रहा है, निष्फल मत गूँथ"—की जगह 'गुथ-गुथ हार न कर में' भाषा भी लड़खड़ा रही है। कई स्थान में 'गूँथ' का भाव नहीं आ पाया है। कई जगह 'गूँथ' का उपयुक्त प्रयोग नहीं हो पाया। यथा:—

समीरण के पंखों में गूँथ
लुटा डाला सौरभ का भार
तरंगें उठीं पर्वताकार
भयंकर करतीं हाहाकार

जिसने समुद्र देखा है वह कह सकेगा कि तूफान के समय समुद्र की लहरें गरजती हैं-वहाँ 'हा-हाकार' का आभास नहीं होता, 'हुँकार' प्रत्यक्ष सुनायी देती है। 'हा-हाकार' 'सामूहिक चीत्कार' या 'सामूहिक रुदन' को कहते हैं जिसमें भय का भाव प्रमुख है-अन्याय, अत्याचार, आपत्ति और अत्याचारी पीड़ा के भाव भी मिश्रित होते हैं।—समुद्र के गरजते समय 'हा-हाकार' का प्रयोग अशुद्ध है। —इसी प्रकार निम्नलिखित प्रयोग भी अशुद्ध हैं:-

तब बुझते तारों के, नीरव नयनों का
यह हा-हाकार
आँसू से लिख-लिख जाता है
"कितना अस्थिर है संसार !"

'हा-हाकार' ऊँची आवाज में हुआ करता है 'नीरव नयनों' का 'हा-हाकार' कैसा ? रहस्यवाद में भी यह कल्पना कठिन है !! ध्वनि-शक्ति भी नहीं है। विपरीत भावों का समावेश है। इसी प्रकार अकेली पीड़ा का ही हा-हाकार" बताया गया है जो शुद्ध नहीं हो सकता।

शून्य से टकराकर सुकुमार
करेगी पीड़ा हा-हाकार

चल चपला के दीप जलाकर
किसे ढूँढ़ता अन्धाकार

❀ ❀ ❀ ❀

जहाँ रोता है मौन अतीत
सखी तुम हो ऐसी झङ्कार
बनती' आलोक समाधि
तुम्हीं हो ऐसा अन्धाकार

दोनों स्थान में 'अन्धकार' को बिगाड़ा गया है। इसी प्रकार—

(क) डूब कर हो जाओगे पार
विसर्जन ही है कर्णाधार

(ख) विसर्जन करो मनोरथ कूल
न लाये कोई कर्णाधार

(ग) नहीं है तरिणी कर्णाधार
अपरिचित है वह तेरा देश

इन स्थानों में 'कर्णधार' होना चाहिए।

पुनरुक्ति-दोष

'यामा' में छायावाद के 'बेसिक' शब्दों को इतनी बार दुहराया गया है कि एक शब्द को बार-बार सुनते-सुनते कान थक जाते हैं। कहीं-कहीं कवयित्रीजी के शब्द-कोष के सीमित होने का संदेह

होने लगता है। प्रारम्भ में हम 'अवगुंठन' शब्द का प्रयोग देख चुके हैं। यहाँ 'चल' शब्द के बार-बार प्रयोग के कुछ उदाहरण समीचीन होंगे। 'चल' का अर्थ है 'अस्थिर' या 'चंचल'। संसार में कौनसी वस्तु 'स्थिर' है? फिर हर वस्तु को अस्थिर बताने से भी क्या लाभ हो सकता है? असंख्य वस्तुएँ चंचल हैं। फिर बार-बार 'चल' कहने का क्या लाभ? कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) चल चपला के दीप जला कर
(२) समीरण का छूकर चल छोर
(३) गुलाबी चल चितवन में बोर
सजीले सपनों की मुसकान
(४) चल चितवन के दूत सुना
उनके, पल में रहस्य की बात
(५) अनिल के चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाती झंकार
(६) लोल तारक भी अचंचल
चल न मेरा एक कुन्तल
(७) मलयानिल का चल दुकूल अलि!
(८) फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ

यह 'यामा' के 'चल' के बहुत थोड़े उदाहरण हैं। अगणित 'चल' 'यामा' में भरे पड़े हैं। ज्ञात होता है कि 'यामा' में यदि कोई वस्तु अचल है तो वह शब्द 'चल' ही है!!

प्याला या प्याली?

'यामा' आद्योपान्त पढ़ जाने पर 'यामा' के 'प्याले' और 'प्यालियों' का भी दृश्य अच्छा प्रतीत होता है। पता नहीं इतनी

अधिक बार 'प्याली' और 'प्याले' का प्रयोग क्यों किया गया है ? शंका उत्पन्न होती है कि 'जीवन-प्याला' शुद्ध प्रयोग है अथवा 'जीवन-प्याली' ? प्रश्न यह भी है कि 'प्याला' और 'प्याली' एक ही वस्तु हैं या इन दोनों में भेद है ? हमारे विचार में यह प्रश्न महादेवीजी स्वयं सुलझा नहीं सकीं, इसीलिए दोनों को समान रूप से प्रयोग में लायी हैं। कहीं-कहीं एक ही छन्द में, एक ही भाव में 'प्याला' और 'प्याली' दोनों का प्रयोग किया है ? प्रश्न का उत्तर दिये बिना हम भी कुछ उदाहरण पाठकों के सन्मुख बिना टीका-टिप्पणी के उपस्थित करना उचित समझते हैं।

(१) इस मीठी-सी पीड़ा में
डूबा जीवन का प्याला
लिपटी-सी उतराती हैं
केवल आँसू की माला

(२) छलकती जाती है दिन रैन
लबालब तेरी प्याली मीत
ज्योति होती जाती है क्षीण
मौन होता जाता संगीत

(३) उस मतवाली वीणा से
जब मानस था मतवाला
वे मूक हुईं झङ्कारें
वह चूर हो गया प्याला

(४) अपना सुख बाँट दिया हो
जिसने इस मधुशाला में
हँस हालाहल ढाला हो
अपनी मधु सी हाला में
मेरी साधों में निर्मित
उन अधरों का प्याला हो।

(५) कितनी करुणाओं का मधु
कितनी सुषमा की लाली
पुतली में छान भरी है
मैंने जीवन की प्याली!

(६) अश्रु सिक्त रज किसने, निर्मित
कर, मोती सी प्याली;
इन्द्र-धनुष के रङ्गों से, चित्रित
कर, मुझको दे डाली।

(७) पलक प्यालों से पी-पी देव
मधुर आसव सी तेरी याद

प्याले और प्यालियाँ 'यामा' की प्रदर्शिनी में इतने प्रकार के रखे हुए हैं कि गिनते-गिनते थक जायँगे तो भी पूरा गिन नहीं सकेंगे। इसलिए कुछ थोड़े उदाहरण ही उद्धृत किये जा सकते हैं। हमारा विचार है कि दोनों की संख्या समान होगी। यह कहना कि 'प्यालों'का उपयोग शुद्ध है, 'प्यालियों' का अशुद्ध—क्योंकि एक जोरदार है दूसरी कमजोर—सही प्रतीत नहीं होता। शायद इसीलिए महादेवीजी ने दोनों को समान बनाकर छोड़ा है।

उपसंहार

'यामा' के कुछ दोष हमने ऊपर दिखाये हैं, वे दोष, अनगिनती गुणों के सम्मुख, कुछ भी नहीं हैं। 'यामा' की स्निग्धता से दबे हुए भी हैं; और अधिक से अधिक वे चन्द्रमा के काले दाग या कुसुम के कंटक ही प्रतीत होते हैं। जहाँ 'यशोधरा', 'निशा-निमंत्रण', 'गुञ्जन' और 'तुलसीदास' में दोषों ने गुण दबा दिये हैं वहाँ 'यामा' में गुणों ने दोष दबा लिये हैं।

वर्तमान साहित्य में कोई भी ग्रन्थ दोष-रहित नहीं है, यह देखकर खेद होता है। छोटे-छोटे दोष तो बड़े-बड़े कवियों की

कृतियों में भी मिलते हैं, परन्तु जो दोष हमने दिखाये हैं ये छोटे दोष नहीं हैं। वे बहुत बड़े-बड़े दोष हैं। नामी कवियों की कविताओं में इतने बड़े दोष बहुत संख्या में होने से भाषा-विकृत होने का भय होता है। इस युग में जहाँ राष्ट्रभाषा के मञ्च पर हिन्दी के बैठालने का प्रयत्न किया जा रहा है, जहाँ हिमालय से कन्याकुमारी और कच्छ से कामरूप तक सारे देश की भाषा हिन्दी बनायी जा रही है, वहाँ प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी का कर्तव्य है कि भाषा को अत्यन्त परिमार्जित करने का अत्यधिक प्रयत्न करे। जिस भाषा में सुन्दर प्रवाह नहीं, जिस भाषा में मनमानी-घरजानी चल रही है, जिस भाषा का रूप दिनों-दिन विकृत होता चला जा रहा है, जिसमें अच्छा साहित्य पैदा नहीं हो रहा है, जिसमें मौलिकता का अभाव बढ़ रहा है, वह भाषा राष्ट्र-भाषा के योग्य नहीं समझी जा सकती और यदि राष्ट्र-भाषा हो भी जाय तो उसका जीवित रहना कठिन है। हमारे सम्मुख नागरी लिपि और रोमन लिपि का प्रश्न उतना कठिन नहीं है जितना भाषा को परिमार्जित और व्यापक बनाने का। असंख्य दोषों से भरी हुई और ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर चलने वाली चीनी और जापानी लिपि में भी अत्यन्त रोचक साहित्य है और ये लिपियाँ भी बड़े-बड़े देशों की भाग्य विधात्री बनी हुई हैं।

मनुष्य समाज में, भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय भाषा के ही द्वारा हुआ करता है। भाषा ही साहित्य की मूलाधार है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जितनी ही भाषा परिमार्जित होगी उतना ही साहित्य भी मनोहर और भव्य होता जायगा। जितना साहित्य मनोहर होगा उतनी ही उस देश की संस्कृति उन्नत मानी जायगी। देश को उन्नतावस्था पर पहुँचाने के लिए परिमार्जित भाषा एक बहुत बड़ी सीढ़ी है। इसीलिए कालिदास ने भी वाक् और अर्थ – भाषा-चमत्कार और

अपूर्व भाव की प्रतिपत्ति के लिए पार्वती और परमेश्वर की 'रघुवंश' के प्रारम्भ में प्रार्थना की थी।

राष्ट्र के सम्मुख आज परिमार्जित भाषा में नवीन साहित्य सृजन करने का प्रथम कार्य है और यह कार्य तब तक प्रारम्भ नहीं हो सकता जब तक नवयुवकों के मस्तिष्क से वह आवरण न हटा दिया जावे जो 'अवगुंठन-युग' की दूषित भाषा से चारों ओर आच्छादित है। राष्ट्र के नाते प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि विना किसी भय के उस काव्य को निन्दनीय कहे जो भाषा-दोषों से भरपूर हो। गद्य की अपेक्षा पद्य की भाषा सदा ही नवीन मस्तिष्क को शीघ्र ही प्रभावित किया करती है। इसीलिए कविताओं की भाषा को परिमार्जित रखने की अत्यंत आवश्यकता है।

इस उद्देश्य से लिखे हुए इस लेख में यदि कहीं व्यङ्ग की भाषा कठोर हो गई हो तो वह क्षम्य है। गुप्तजी, बच्चन, पंत, निराला और महादेवीजी ने अथक परिश्रम से हिन्दी संसार में अपना स्थान प्राप्त किया है। उनसे इतनी ही प्रार्थना है कि शान्त चित्त से वे अपनी कृतियाँ पढ़ें और देखें कि जो दोष हमने दिखाये हैं वे वास्तव में सही हैं या नहीं और उनसे भाषा के अहित होने की संभावना है या नहीं।

विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर लिखा था कि नीचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेना (कारखाने से राजप्रासाद में पहुँच जाना) अवश्य ही दुर्लभ और सुन्दर है। परन्तु अपनी भूल स्वीकार करना और भी दुर्लभ तथा और भी सुन्दर है।

हमें पूर्ण आशा है कि हमारे श्रद्धेय कविगण और भी दुर्लभ तथा और भी सुन्दर बनने से पीछे पैर न हटावेंगे।

नवयुवक कवियों से, इस लेख माला द्वारा यह कहना अनुचित न होगा कि अपूर्व भावों के साथ-साथ भाषा चमत्कार अथवा पद-लालित्य की ओर भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। युवावस्था में परिश्रम किया भी जा सकता है। एक-एक शब्द को

तोल-तोल कर कविता में यदि रखा जायगा और अभी से इसका अत्यधिक अभ्यास कर लिया जायगा तो अपने आप श्रुति-मधुरता कविता में आने लगेगी। परन्तु अभ्यास और परिश्रम की आवश्यकता है। कविता का भाव स्वत: ही हृदय में जन्म लेता है यह सही है, परन्तु भाव, विचार या कल्पना अपने हृदय में ही विलीन हो जायँ तो उनका लाभ ही क्या है ? दूसरों को उस भाव, विचार अथवा कल्पना से प्रभावित करने के लिये परिमार्जित भाषा के साँचे में ढालना होता है जिसमें एक-एक शब्द के प्रभाव को देखना आवश्यक है। एक अँग्रेजी समालोचक ने लिखा है कि कविता में भाव की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी परिश्रम की।

"More Perspiration than Insj iration".

संसार के जितने बड़े-बड़े कवि हुए हैं प्रारम्भ में सभी ने अत्यधिक परिश्रम किया है।

वास्तव में, ऊँचे स्वर में प्रत्येक पुरुष चिल्ला सकता है परन्तु जो उस ऊँचे स्वर को नियंत्रित करने की क्षमता रखते हैं वे ही संगीत की अमृत-वर्षा कर सकते हैं, दूसरे नहीं। प्रत्येक कला में नियन्त्रण की आवश्यकता है। काव्य-कला इस नियन्त्रण के नियम का अपवाद नहीं। नियन्त्रण के बिना, कोई कला आनन्ददायिनी नहीं हुआ करती और कला के आनन्ददायिनी होने में ही उसकी सार्थकता है। नियन्त्रण के नियम और उसके सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में अनन्त समय लगा है। कविता करने के पूर्व इन सिद्धान्तों पर भली भाँति मनन कर लिया जाय यही हमारी प्रार्थना है।

द्वितीय भाग

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटनी' इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' और पं० केशव मिश्र के मेघदूत का पद्यानुवाद

वर्तमान हिन्दी भाषा में थोड़े समय में ही खड़ी बोली की कविता ने, सर्वतोमुखी होकर, जो चारों ओर अधिकार जमा लिया है, वह किसी से छिपा नहीं है। श्रुति-मधुर शब्दों की प्रचुरता से भाषा भी अब अधिक संगीतमय होती जा रही है। नाना प्रकार के छन्दों से भी हिन्दी-कविता-सुन्दरी को भली-भाँति सज्जित किया जा रहा है। यह शुभ लक्षण अवश्य है। परन्तु जहाँ तक भाषा से सम्बन्ध है, बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवियों ने भी, कविता की भाषा पर भली भाँति अभी तक उतना ध्यान नहीं दिया जितना आवश्यक था। फल यह हुआ कि ऊबड़-खाबड़ भाषा, व्याकरण और कहावतों के अशुद्ध प्रयोग, बड़े-बड़े कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं में भी मिल जाते हैं। संस्कृत, उर्दू और ब्रजभाषा का खड़ी बोली पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और इन्हीं के शब्दों का बाहुल्य खड़ी बोली में पाया जाता है। कहीं-कहीं इन तीनों का सम्मिलन या 'मिश्रण' एक ही छन्द में कविता को अत्यधिक नीरस बना डालता है। कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ कि कविता के लिए भाषा में व्यवहृत और प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उपयुक्त नहीं हुआ करता। थोड़े से शब्द ऐसे होते हैं जो कविता में सजीवता प्रदान करते हैं; थोड़े से शब्द ऐसे होते हैं जो कविता में सरसता बढ़ाते हैं।

यह विचार सही नहीं है कि उर्दू शायरी में इस्तैमाल किया हुआ और अच्छा माना गया लफ़्ज खड़ी बोली में भी उसी प्रकार ही कविता में जान फूँक सकेगा। यह मान लेना भी ठीक नहीं

हो सकता कि रीति-कालीन ब्रजभाषा का एक अत्यन्त मधुर शब्द खड़ी बोली की कविता में भी श्रुति-मधुर बना रहेगा।

'हाथी' या 'बैल' या 'भैंसा' किसी वृक्ष, टीला या दीवार से उसको उखाड़ने की चेष्टा में अपना सिर खुजलाता है तो संस्कृत में इस क्रिया को 'वप्रक्रीड़ा' कहा जाता है। कवि-सम्राट कालिदास ने अच्छे-अच्छे स्थानों में इस 'वप्रक्रीड़ा' का वर्णन करके काव्य-माधुरी की मनोरम छटा दिखलाई है। यदि खड़ी बोली में कलिदास का अनुकरण करके कोई कवि 'वप्रक्रीड़ा' प्रयुक्त करें तो निःसन्देह वह शब्द नीरस प्रतीत होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कविता का, और उसके अन्तर्गत प्रत्येक छन्द का, एक वातावरण हुआ करता है और ऐसे शब्द ही प्रयोग किये जाने चाहिए जो उस वातावरण के अनुकूल हों। इस दृष्टि से, वर्तमान काल की अधिकतर रचनाएँ भाषा दोषों से भरी हुई हैं। हमारे वर्तमान कवियों में अच्छी काव्य-प्रतिभा है। उन्होंने वर्तमान काल में जो काव्य-धारा बहाई है उसके लिए प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी उनका आभारी है। केवल दुःख इस बात का है कि कवि लोग इस बात को सोचते तक नहीं कि जो भाषा प्रयुक्त की जा रही है वह भाव व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है या नहीं। भाषा की ओर न कवियों का ध्यान है न समालोचकों का ही, बड़े-बड़े महारथियों ने भी भाषा की अव्यवस्था को हटाने का प्रयत्न नहीं किया। आधुनिक काव्य ग्रन्थों में ऐसी रचना एक भी नहीं मिली जिसका आद्य से अन्त तक एक-सा भाषा-प्रवाह बना रहा हो या जिसमें अत्यन्त साधारण भाषा-दोष प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होते हों। उदाहरण सहस्रों की संख्या में पहुँच सकते हैं परन्तु कुछ यहाँ दिखाने अनुचित नहीं होंगे।

ये उदाहरण छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं दिये जा रहे। जिन कवियों की रचनाओं से ये उदाहरण लिये जा रहे हैं उनके

प्रति अत्यन्त श्रद्धा दिखलाते हुए भाषा के नव-कवियों से हम यही कहेंगे कि यह भाषा-दोष ही गिने जायेंगे। जो सज्जन यह कहा करते हैं कि ऐसे ही भाषा-दोष, कबीर, जायसी, तुलसी, मीरा इत्यादि पुराने कवियों में पाये जाते हैं उनसे अत्यन्त विनय के साथ हम यही निवेदन करेंगे कि उस काल में और वर्तमान काल में आकाश पाताल का अन्तर है। मुस्लिम काल में हिन्दी भाषा को वह साधन उपलब्ध नहीं थे जो आज हैं। उस समय हिन्दी न तो दरबारी भाषा थी, न राष्ट्रभाषा थी और न देश की ही भाषा थी। राजाश्रय में जो कवि रहा करते थे उन्हें भाषा की क्या परवाह हो सकती थी? व्यक्तिगत प्रसन्नता और अप्रसन्नता का जहाँ सर्वदा विचार रखना पड़ता था वहाँ भाषा-सुधार का प्रयत्न कोई भी नहीं किया करता होगा। छापेखाने न होने के कारण न तो इतनी पुस्तकें ही छपती थीं और न विचार विनिमय ही (भाषा की दृष्टि से) हो सकता था। फिर भी उस काल की भाषा बहुत परिष्कृत है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के मंच पर आसीन हो चुकी है। पुस्तकों पर पुस्तकें छपती चली जा रही हैं। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों की अभिवृद्धि हो रही है। रेडियो पर कवि-सम्मेलन और कविताओं पर आलोचनाएँ सुनाई पड़ती हैं। विश्वविद्यालयों में एम० ए० तक तो हिन्दी की शिक्षा दी ही जाती है। उसके अनन्तर रिसर्च स्कालर होकर पी-एच० डी० या डी० लिट० की बड़ी बड़ी डिगरियाँ भी मिलने लगी हैं। साहित्य सम्मेलन-सी संस्थाएँ अलग परीक्षाएँ लेती हैं। पारितोषिक अलग वितरण हो रहे हैं। ऐसे समय में भी यदि भाषा के परिमार्जित होने का प्रश्न उपस्थित न हो पाया तो फिर हो भी कब सकेगा? पद्य की भाषा सदा ही गद्य और नाटकों की भाषा को प्रभावित करती रही है। इसीलिए पहले पद्य की भाषा पर ध्यान आकृष्ट करके बाद में 'नाटकों की भाषा' एवं 'गद्य की भाषा' पर ध्यान दिलाना हम उचित समझते हैं। भाषा के रक्षणार्थ, जहाँ

उर्दू ग्रूप" का सक्रिय विरोध करना हमारा कर्तव्य है वहीं अपनी आन्तरिक बुराइयों पर दृष्टि डालना एवं भाषा में आये हुए दोषों को एक-एक निकाल कर बाहर फेंक देना भी हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है।

हिमकिरीटनी

पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटनी' बड़े ऊँचे भावों से भरी हुई है। राष्ट्रीय काव्य-ग्रन्थों में 'हिमकिरीटनी' जैसे उच्च भाव अभी तक अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिले। 'कैदी और कोकिला' शीर्षक कविता भी उसमें बहुत अच्छी है और उसका भाषा-प्रवाह भी सुन्दर है।

उसमें कैदी और कोकिल की अवस्था का मुकाबिला करते हुए जब कवि कहता है कि—

तेरा नभ भर में संचार।
मेरा दस फुट का संसार!
देख विषमता मेरी तेरी
बजा रही तिस पर रण-भेरी

तो हृदय पर एक ऐसा प्रभाव होता है जिसको वर्षों तक सुगमता से हटाया नहीं जा सकता। परन्तु उसी रचना में निम्न-लिखित पंक्तियाँ पढ़ कर भाषा पर सहसा तरस भी आने लगता है।

हूँ मोट खींचता, लगा पेट पर जूआ
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ

इनको पढ़ते ही निम्नलिखित पंक्तियों की याद भी आ जाती है:—

"हिन्दी-कविता में बड़ा भला यह हूआ
तुम अब लिख सकते "छूआ", 'दूआ', 'सूआ'"

उसी 'कैदी और कोकिला' में एक स्थान पर लिखा है:—

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटनी'

तोता नहीं, नहीं तू तूती
तू स्वतंत्र बलि की गति कूती

यहाँ 'तोता' जब आ चुका था तो 'तूती' को भी लाकर 'द्वैत-वाद' का भाव प्रदर्शित करना व्यर्थ था।—वातावरण के अनुकूल भी न था।

'अमर राष्ट्र' सम्बन्धी कविता बड़ी अच्छी है। उसमें एक स्थान पर लिखा है—

जिस रस में कीड़े पड़ते हों
उस रस पर विष हँस हँस डालो!

सोचने की बात है कि जिस रस में कीड़े पड़ रहे हैं वह विष समान तो है ही—विष डालने की आवश्यकता ही क्या?

संस्कृत-उर्दू और संस्कृत-ग्रामीण मिश्रित प्रयोग भी एक-ही पंक्ति में मिल जाते हैं :—

जिसके स्नेह-ज़ोर से आँखें प्रलय-कारिणी मीचे
बिजली तक चीत्कार किए, आ पड़ती भू पर नीचे

'स्नेह' और 'ज़ोर'; और 'प्रलय-कारिणी' और 'मीचे' का सम्मिलन ध्यान देने योग्य है।

एक दूसरे स्थान पर शुद्ध संस्कृत शब्द को उर्दू के साथ देख कर भाषा घबड़ाती सी प्रतीत होती है। लिखा है:—

सद्य-स्नाता भू रानी के गोद भरे अहसान
अत्याचारों में लहराने वाले जग-बरदान

कहाँ 'सद्य-स्नाता' शुद्ध संस्कृत शब्द और कहाँ उर्दू का 'अहसान'? एक सज्जन ने लिखा।

"'सद्य-स्नाता भू रानी के गोद भरे अहसान'
'हिमकिरीटिनी' में देखो 'उर्वर-ज़रख़ेज़' मिलान"

ऐसे बेमेल मिलान मौके बेमौके मिलते चले जाते हैं। एक स्थान पर लिखा है:—

चाँदी सोने की आशा पर
अंतस्तल का सौदा
हाथ पाँव जकड़े जाने को
आमिष-पूर्ण मसौदा

'अन्तस्तल का सौदा' और 'आमिषपूर्ण मसौदा' कणकटु मिश्रित भाषा का नया पौधा मालूम होता है। सौभाग्य से, कहीं-कहीं भाषा में बड़ा अच्छा प्रवाह आ गया है और उच्च विचारों के कारण, भाषा-दोष दबे से ज्ञात होते हैं।

× × ×

विजनवती

पंडित इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' में एक स्थान पर है :—

वह सरिता की ललित कलित गति
सागर का फेनिल कल्लोल
उपवन की वह मृदु मादकता
कानन का मर्मर हिल्लोल
मधु-आसव से गन्ध-विधुर वह
मलयानिल का मांदरोच्छ्वास
उच्छल-फेनिल-जलधि - विलोड़ित
पुरवैया का सजल उसास

यहाँ संस्कृत शब्दों के मध्य में अकेली 'पुरवैया' प्रतिकूल वातावरण में ऐसी प्रतीत होती है मानो बिचारी शून्य में भटकती हुई उसासें ले-लेकर कह रही है:—

"मैया गई माइके जु भैया घर नाहीं आजु
नन्द के कन्हैया मेरी गैया दुहि दीजिए"

'विजनवती' में कहीं-कहीं नवीन भाषा गढ़ी गई है और वह भाषा अत्यन्त हास्यास्पद हो गई है, यथा :—

नन्दन-वन की पवन-मलय मद दलनी
उसके मन में हहर हहर हहराई।
विकल पिपासा की क्या आशा छलनी
तप्त हृदय में गहर गहर गहराई॥

इससे तो निम्नलिखित छन्द अच्छा रहता :—

"हिमगिरि पर कविता भी लगे मचलनी
कवि ने उसको सहर सहर सहराई
खा खा चोटें, भाषा लगे उबलनी
'विजनवती' में घबर घबर घबराई।"

एक दूसरे स्थान पर लिखा हुआ है :—

तनी हुई थी उसके तन की तनिमा
कल उल्लसित विभा उसकी विलसित थी
श्याम कुंज-सम सघन दृगों की घनिमा
किस रस से सरसाकर मृदु-अलसित थी।

टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। निम्नलिखित पद्य भी मनन योग्य है :—

उजले मुख में बिजली क्षणिक जलाकर
विभ्रम झलकाती अलका की ललना
कभी कुंवर का कोमल हृदय गला कर
छलछल छलकाती नयनों में छलना

'तनिमा' और 'घनिमा' तो अजीब हैं ही। 'छल-छल छलकाती छलना' क्या वस्तु है?

एक स्थान पर 'विजनवती' में आया है :—

रोई, बाला, रोई, व्याकुल रोई
फूट फूट कर खा पछाड़ वह बिलखी
था न वहाँ मन समझाने को कोई
लीन हुई निर्जन में आहें दिल की।

तीन बार 'रोई' 'रोई' 'रोई' फिर 'फूट फूट कर बिलखी' लिख कर बिचारी भाषा को ही रुलाया गया है। प्रतीत ऐसा होता है मानो कवि कह रहा है:—

"रोई, भाषा, रोई, व्याकुल रोई
बिजनवती में फूट फूट कर बिलखी
मार्ग-प्रदर्शक था न वहाँ पर कोई
कवि के हिय में लगी हुई थी हिलकी।"

'विजनवती' में अनेकों उदाहरण ऐसे मिल जायँगे।
'विजनवती' की 'शकुन्तला' एवं 'महाश्वेता' पठनीय हैं।

× × × ×

मेघदूत का नया पद्यानुवाद

कलिदास के मेघदूत के पद्यानुवाद भाषा में कई हो चुके हैं। अभी हाल में पंडित केशवप्रसादजी मिश्र का पद्यानुवाद साहित्य-संसार में आया है। यह अनुवाद अत्यन्त सफल हुआ है। खड़ी बोली में इतना सरल और सरस अनुवाद अभी तक नहीं हुआ। पंडित केशवप्रसादजी संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हैं और अनुवाद में काव्य-प्रतिभा के साथ उनका पांडित्य भी भली भाँति झलकता है। भाषा और शैली दोनों ही अच्छी हैं। भाव सुलझे हुए हैं और भाषा अत्यन्त सुथरी हुई एवं परिमार्जित है। एक दो स्थान पर यदि कहीं भाषा-शैथिल्य आ गया है तो वह क्षम्य है। 'तुक' मिलाने के लिए कहीं-कहीं भाषा तोड़नी-मरोड़नी भी

पड़ती है। एक दो उदाहरण अनुचित न होंगे। उत्तर मेघ के सैंतालीसवें श्लोक का अनुवाद है:—

मिटा शाप ज्यों ही हरि जागे, तजकर शेषनाग की सेज
आँख मूँद कर चौमासे की विरह वेदना और अंगेज
पूर्ण करेंगे तब वियोग में गुने हुए मन के अभिलाष
शरत काल की खिली चाँदनी रातों में कर विविध विलास

'अंगेज' शब्द अकेला घबरा कर कह रहा है कि "मिश्र जी ने अनावश्यक होते हुए भी केवल तुक मिलाने को, घसीट कर, प्रतिकूल वातावरण में, जबरदस्ती बैठा दिया है। मेरा क्या कसूर है?"

'शेष नाग की सेज' से मालूम यह पड़ता है कि शेषनाग ने अपने सोने को शय्या तैयार कराई हो। विष्णु भगवान् ने उनको उठाकर स्वयं उस पर अधिकार जमा लिया हो और फिर सोच-विचार कर दूसरे की सेज छोड़ दी हो।

'मूँद' और 'चौमासा' के स्थान में "आँख बन्द कर चतुर्मास की" लिखा जा सकता था। परन्तु कुछ-कुछ ब्रजभाषा और कुछ-कुछ "उप-उप-भाषाओं" से प्रेम प्रतीत होता है। इसलिए लिखा गया है।

मरा नहीं है कुशल पूँछता, कह विरहिन अपनी दिन रात
अब तब गए जनों का जीते रहना मुख्य चहेती बात

'चहेती' ब्रजभाषा का शब्द है इसीलिए अभी हाल में प्रकाशित 'कालिदास ग्रन्थावली' में भी चहेती शब्द की यत्र तत्र छटा दिखाई पड़ती है। उप-उप-भाषाओं के ऐसे शब्द 'खड़ी बोली' को पड़ी बोली' बनाने में समर्थ हो सकेंगे!! "अब-तब-गए जनों" का अर्थ क्या है? समझ में नहीं आता। अशुद्ध प्रतीत होता है।

एक स्थान पर यह छन्द है:—

फड़क उठा ऊपर को तेरे जाते मृगनयनी का नैन
होगा मछली की मचलन से चंचल कमल कान्ति का ऐन

यक्ष मेघ से कह रहा है कि तेरे वहाँ जाने पर मेरी प्रिया का नयन फड़क उठा है ऐसा मालूम होता है। वह फड़कता नयन ऐसा शोभित हो रहा है मानो सरोवर में मछली के चलने से कमल हिल रहा हो।

'ऐन' और 'नैन' की तुक भद्दी मालूम होती है। 'ऐन' 'अंगेज' की तरह अकेला हिल रहा प्रतीत होता है। कालिदास का भवा भी भाषा में भली भाँति व्यक्त नहीं हो पाया। 'अयन' को शायद 'ऐन' बनाया गया है॥

उत्तर मेघ के ४४ वें श्लोक का अनुवाद किया गया है:—

देवदार की नई कोंपलें चिटकाकर जो चली बयार
हिम गिरि से दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार

हमारी सम्मति में चिटकाकर शब्द अशुद्ध है। कवि कालिदास ने शब्द "भित्वा" लिखा है जिसका अर्थ "तोड़कर" है; न कि "चिटकाकर"। हिन्दी कविता पढ़कर देव कवि की प्रसिद्ध पंक्ति "मदन महीपजू को बालक बसन्त ताहि प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै" याद आ जाती है। अनुवाद करते समय शायद यही पंक्ति मिश्र जी के चित्त में थी। गुलाब का फूल प्रातः खिलते ही धीरे से 'चट' की आवाज़ किया करता है। इसीलिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले महाकवि देव ने 'चटकारी' शब्द का प्रयोग किया था। उत्तर से दक्षिण आती हुई वायु कोंपलों को तोड़ डालती है जगाती नहीं है। इसलिए भी 'चिटकाकर' अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

जिस तरह कोंपलों का 'चिटकाकर' लिखा गया है उसी भाँति पपीहों का 'पिहकना' और 'चहचहाना' लिखा गया है यथा:—

मन्द मन्द अनुकूल पवन यह तुझको सीधे बहा रहा
तेरा सगा पपीहा बाएं पिहक रहा चहचहा रहा

कवि-कुल-गुरु कालिदास ने तो केवल "नदति मधुरं" लिखा है। चातक के लिए 'नदति' शब्द अत्यन्त स्वाभाविक भी है। 'मधुर' भी है। अनुवाद में मधुर का तो भाव आया तक नहीं, परन्तु प्रतीत यह होता है कि अनुवादक ने 'चातक' को कोई साधारण चिड़िया समझा है जो कर्कश स्वर में "चहचहा रही" है। पपीहा की आवाज "पी" "पी" की ही होती है यही मानी भी गई है।

श्री महादेवी जी वर्मा का प्रसिद्ध कवित्त है—

"अब सीख ले मौन का मंत्र नया,
यह 'पी' 'पी' घनों को सुहाता नहीं"

अथवा

"वह कौन सा 'पी' है पपीहा तेरा,
जिसे आँख हृदय में बसाता नहीं"

अन्य कवियों ने भी 'पी-पी' का ही प्रयोग किया है। कालिदास का भाव यदि व्यक्त नहीं हो पाता तो कोई बात नहीं थी। कम से कम ऐसे अस्वाभाविक वर्णन को बचा देना चाहिए था।

एक दूसरे स्थान पर है:—

पर्वतीय नदियों के तट पर फूले जूहों के आराम
उन्हें सींचते आगे बढ़ना, थोड़ा सा करके विश्राम

यहाँ 'आराम' का अर्थ 'उद्यान' 'बाग़' या 'उपवन' है। परन्तु आराम और विश्राम एक ही प्रतीत हो रहे हैं। 'ऐन' और 'अंगेज' से ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक ही है।

एक अन्य श्लोक का अनुवाद है:—

विधि-बस स्वजनों से बिछुड़ा मैं
हुआ आज याचक तेरा
नहीं अधम से माँगा मिलना,
उत्तम से अच्छा फेरा

'उत्तम' से 'अच्छा' क्या होगा ? और 'उत्तम से अच्छा फेरा' का अर्थ क्या है ? भाषा अस्त-व्यस्त हो रही है !!

एक दूसरा छन्द है:—

वहाँ रात को नहीं सूझती घनी अँधेरी में जब राह
तभी रमणियाँ जाती होंगी रमणों के घर भरी उछाह
कनक कसौटी की रेखा-सी, बिजली से दिखलाना बाट
डरी नारियों को न डराना, बरस या कि दे गर्जन डाट

पद्यानुवाद में इस छन्द की भाषा सबसे अधिक शिथिल है। 'रमण वसतिं योषितां' बड़े अच्छे शब्द हैं। उनका 'रमणियाँ' और 'रमणों' के घर जाने का अनुवाद सजीव भाषा में नहीं कहा जा सकता। और फिर "दिखलाना बाट" या 'डरी नारियों को न डराना' कहाँ से आ गया ? 'राह दिखलाना' और 'बाट दिखलाना' में फ़र्क है। "बरस या कि दे गर्जन डाट" कर्कश भाषा के साथ-साथ अशुद्ध भाषा भी है।

'दिनकर' के 'द्वन्द्वगीत' और 'रसवन्ती'

बिहार प्रान्त के युवक कवि 'दिनकर' ने 'रेणुका' और 'हुङ्कार' में देशभक्ति के साथ-साथ आत्माभिमान और आत्मगौरव का आदर्श सम्मुख रखकर बड़ी सुन्दर रचनाएँ साहित्य को प्रदान की थीं जिनमें माधुर्य और ओज उचित अनुपात में दिखाई देते हैं। 'दिनकर' की इन रचनाओं में से कई साहित्य की अनमोल निधि हैं। 'रेणुका' से मुख्यत: यह आशा हुई थी कि जैसे-जैसे अवस्था और अनुभव कवि का बढ़ेगा वैसे-वैसे काव्य-प्रतिभा और भी प्रस्फुटित होती रहेगी। यह कहना अभी कठिन है कि यह आशा किस समय तक पूर्ण हो सकेगी। परन्तु 'द्वन्द्वगीत' और 'रसवन्ती' देखकर तो कुछ निराश होना पड़ा। दोनों में भाषा-शैथिल्य के साथ-साथ तन्मयता का अभाव प्रतीत होता है।

दोनों ग्रन्थ पढ़कर यही मालूम होता है कि कवि का हृदय किसी दूसरे स्थान पर है। कवि हृदय से नहीं, किसी अन्य कारण-वश कुछ न कुछ कविता लिख रहा है और उस कविता में कवि को अत्यधिक परिश्रम उठाना पड़ रहा है। कहीं-कहीं भाव अवश्य अच्छे हो गए हैं। परन्तु अधिकतर भाव साधारण ही रहे हैं और फिर भी भाषा सम्हल नहीं पाई। यथा:—

अपनी बात कहूँ क्या, मेरी
भाग्य-लीक प्रतिकूल हुई
हरियाली को देख आज फिर
हरे हुए दिल के फोले!

× × ×

हाँ, सच है, छाया सुरूर तो
होम और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिए प्रेम रस
जिए अगर बाउर होले ।

'फफोलों' को 'फोले' और 'पागल' को 'बाउर' लिखकर भी काव्य में कोई चमत्कार नहीं आ पाया।

'भाग्य-लीक' से 'भाग्य-रेखा' अच्छा शब्द है। शायद टेढ़ी 'लकीर के फ़क़ीर' या 'चर्व्वित चर्व्वण' भाषा वाले 'प्रतिकूल-लीक' कहते होंगे !! फिर 'सुरूर' और 'बाउर' का सम्मिलन कवि की यात्रा को सुखदायक रहा होगा। कहाँ उर्दू अदब का 'राजा सुरूर' और कहाँ विचारा ग्रामीण 'बाउर तेली !' परन्तु कवि ने दोनों को एक ही छन्द में पास-पास बैठाकर 'विश्ववाणी' के नवीन साहित्य के लिये शब्द-सृष्टि प्रारम्भ कर दी है ! तुलसीदासजी का प्रसिद्ध पद है :—'बावरो रावरो नाह भवानी" वे भी 'नाथ' लिख सकते थे परन्तु 'बावरो' के साथ 'रावरो' और 'नाह' लाकर भाषा अच्छी बना दी है। वातावरण के उपयुक्त शब्द होने चाहिए।

दिनकर ने स्थान-स्थान पर 'याकि' का भी अनावश्यक प्रयोग कर डाला है। 'अथवा' के स्थान में फ़ारसी भाषा में 'या' का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में भी यही 'या' अव्यय माना जाता है। 'ताकि' के मुकाबिले में किसी पुराने ज़माने में 'याकि' का प्रयोग उर्दू में होता था। वर्षों पहिले यह 'याकि' सिर्फ 'या' ही बना दिया जा चुका है। परन्तु 'द्वन्द्व-गीत' और 'रसवन्ती' में 'याकि' अब भी शोभा बढ़ा रहा रहा है। एक-दो उदाहरण अनुचित नहीं होंगे ?

(१) भींग रहीं अलकें सन्ध्या की
रिमझिम बरस रहे जलधर
फूट रहे बुलबुले याकि मेरे दिल के छाले सजनी !
(रसवन्ती)

(२) खिल पायें तो कुसुम, खिलाओ
नहीं, करो पतझाड़ इसे
या तो बाँधो हृदय फूल से
याकि इसे आज़ाद करो
(द्वन्द्वगीत)

यहाँ भाषा के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो रहा है। एक स्थान पर यही लिख दिया है :—

तेरी याद, ध्यान में तेरे
विरह-निशा कटती सुख से
हँसी हँसी में किन्तु हाय,
दृग से पड़ता यह चू क्या है ?

'हाय,' शब्द बिलकुल निरर्थक एवं व्यर्थ घुसेड़ा गया है। और केवल 'तुक' मिलाने को 'यह क्या चू पड़ता है ?' को बिगाड़ कर 'पड़ता यह चू क्या है' कर दिया गया है।

एक सज्जन ने इसको देखकर लिख मारा :—

मैं नहीं जानता था अब तक
तुकबन्दी में 'हा हू' क्या है।
'द्वन्द्वगीत' की "हँसी हँसी" पढ़
समझा यह "चू चू" क्या है !!

एक दूसरे स्थान पर 'संध्या' काव्य में ही "डन्डा" चलता दिखाई पड़ रहा है।

अब साँझ हुई, किरणें समेट
दिनमान छोड़ संसार चला
वह ज्योति तैरती ही जाती
मैं डाँड़ चलाता हार चला

"दो डाँड़ और दो डाँड़ लगा"
दो डाँड़ लगाता मैं आया
दो डाँड़ लगी क्या नहीं, हाय,
जग की सीमा कर पार चला

नवग्रह की जगह कवि ने शायद नव डाँड़े लगाने का प्रयत्न किया! सात सफल हुईं। दो शायद नहीं लगीं। तो भी सीमा पार कर चला। कौन? उत्तर 'हाय' में मिल जायगा। क्योंकि और किसी का तो जिकर तक नहीं किया गया। और, डाँड़ें लगाईं किस में? सूर्य में, या संध्या में, या भाषा की 'तैरती ज्योति' में ही? कुछ पता नहीं चल रहा है। भाषा बुरी तरह बिगड़ी है।

यदि आलोचक भी कवि की अन्तरात्मा से 'समान-वेदन-जनित' सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे तो सहसा कह उठेगा।

'हुंकार', 'रेणुका' को लिख कर
मैं अपना भार उतार चला;
'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत' में अब
करने कृत्रिम मनुहार चला!!
भाषा की 'ज्योति तैरती' में
'डाँड़ों' की दे दे मार चला!
तम से घबड़ा, कवि हार चला;
दिनकर भी कन्धा डार चला!!

निराला जी ने एक बार लिखा था:—

"तुम दिनकर के खर-किरण जाल
मैं सरसिज की मुस्कान"

शायद इसको पढ़कर खिलते हुए कमल पुष्प के समान कविता बनाने की सूझी हो!! परन्तु जहाँ हृदय में, कमल के स्थान में

चिनगारी हो वहाँ कमल स्थापित करने का प्रयत्न सफल कैसे हो सकेगा ? इसीलिए 'द्वन्द्वगीत' में कृत्रिम सौंदर्य की भरमार मिलती है। एक-दो उदाहरण देना अनुचित न होगा।

यह फूलों का देश मनोरम
कितना सुन्दर है रानी
इससे मधुर स्वर्ग ? परियाँ
तुझसी क्या सुन्दर कल्याणी ?
अरे, मरूँगा कल तो फिर क्यों
आज नहीं रसधार बहे
फूल फूल पर फिरे न क्यों
कविता तितली-सी दीवानी ?

जहाँ फूलों का देश 'मनोरम' बताया गया है वहाँ अधिक मनोरम की बात पूछनी ठीक ही होती है। 'क्या स्वर्ग इससे भी मनोरम है ?' यह प्रश्न उचित होता। परन्तु "अधिक मधुर" का प्रश्न कहाँ से उत्पन्न हो गया ? क्या कहीं मिठास का भी वर्णन किया गया है ? या 'मधुर' और 'मनोरम' पर्यायवाची शब्द हैं ? और "परियाँ" कहाँ से आ गईं ? हे कल्याणी ! क्या तुझ सी सुन्दर "परियाँ" हैं ? इस छन्द में यह प्रश्न बेतुका सा है। शायद 'तितली सी दीवानी' कविता 'फूलों' को ही 'परियाँ' समझ रही हो ?

इसी प्रकार 'गीले सुख', 'नलिनी' 'अलिनी' 'शबनम' 'प्याला', 'हिमकण से भींगे गुलाब', 'पुलक स्मृति' को छन्दों में बाँधने का स्थान-स्थान पर प्रयत्न किया गया है। पर न तो कोई नवीन भाव ही आ पाया है; न काव्य कोई चमत्कार ही है। एक स्थान पर लिख दिया है

यह नलिनी-सी आँख जहाँ
काजल बन लघु अलिनी सोई

× × × ×

किस विरही ने तनु की यह
धवलिमा आँसुओं में धोई

क्या बात हुई ? भाषा की 'धवलिमा' 'पछीट पछीट' कर धोई जा रही है !!

पन्त जी का प्रसिद्ध छन्द है—

"वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान"

उर्दू और अंग्रेजी साहित्य में भी इसी भाव की सुन्दर कविताएँ हैं। क्रौंच पक्षी का विलाप सुनकर बाल्मीकि की भी कविता अनायास हृदय से निकल पड़ी थी। संस्कृत में अनेकों पद्य इसी भाव के हैं। इन सब को पढ़कर भी 'पन्तजी' के ऊपर लिखे छन्द में एक ऐसा सौंदर्य मिलता है जिसकी हृदय पर छाप लग जाती है और उसमें एक नये ढंग की 'मौलिकता' का आभास प्रतीत होता है। इसी भाव को 'बच्चन' ने बड़ी अच्छी भाषा में व्यक्त किया है—

मैं रोया, तुम इसको कहते हो गाना
मैं फूट पड़ा तुम कहते छन्द बनाना
क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना।

भाषा-प्रवाह के साथ इसमें एक ऐसी मस्ती मिलती है जो पाठक के हृदय के कोने-कोने में पहुँच कर उसे आनन्द-विभोर कर देती है।

'द्वन्द्वगीत' में भी कवि ने इसी भाव को अपना कर छन्द के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। परन्तु मस्ती के अभाव में छन्द निम्नलिखित हो पाया है:—

मेरे उर की कसक हाय
तेरे मन की आनन्द हुई
इन आँखों की अश्रुधार ही
तेरे हित मकरन्द हुई
तू कहता कवि मुझे किन्तु
आहत मन यह कैसे माने
इतना ही है ज्ञात कि मेरी
व्यथा उमड़ कर छन्द हुई

न तो भाषा-प्रवाह ही बन पाया है और न भाव ही ठीक-ठीक व्यक्त हो पाया है। किसी की आँखों के आँसू दूसरे 'के हित' मकरन्द कैसे बन जायँगे ? 'तू' से क्या ईश्वर से तात्पर्य है या संसार से ? यदि हृदय से उमड़ कर व्यथा चली होती तो वह वास्तव में उत्तम छन्द बन जाती पर कवि को इसका ज्ञान भी नहीं हो पाता । पन्तजी ने इसीलिए "बही होगी कविता अनजान" लिखा था !! 'इतना ही है ज्ञात' लिखकर कवि दिनकर यहाँ पर उसका ज्ञान होना स्वीकार भी कर रहा है। वास्तव में यह 'उर की कसक' नहीं है इसीलिए हृदय-द्रावक नहीं रही।

कहाँ 'पन्त' और 'बच्चन' की भाषा; कहाँ दिनकर की नक़ल का तमाशा ? आकाश और पाताल का अन्तर है ! 'रसवंती' के 'कवि' में भी दिनकर ने इन्हीं भावों को फिर से व्यक्त करने के प्रयत्न किये हैं परन्तु वहाँ भी प्रयत्न असफल हुए हैं। जिस विषय पर महारथियों ने अच्छी तरह लिख डाला हो, जिसमें ज़रा भी गुंजाइश नहीं रही हो उसी विषय पर कविता लिखने का प्रयत्न करना समय नष्ट करना नहीं तो और क्या है ? प्रोफ़ेसर आज़ाद ने एक जगह लिखा था :—

"गोया खाए हुए, बल्कि औरों के चबाए हुए नेवाले हैं। हम

उन्हीं को चबाते हैं और खुश होते हैं। ख्याल करो, इसमें क्या मजा रहा ?"

[redacted] हिन्दी के नवयुवक कवियों के लिए अत्यन्त महत्व [redacted] है। आज से सवा दो सौ वर्ष पूर्व 'खड़ी बोली' में 'शीतल' कवि ने जो सुन्दर भाषा-प्रवाह प्रदर्शित किया था उसी का विकृत एवं अशुद्ध रूप 'द्वन्द्वगीत' में देख कर किसको दुःख न होता होगा ?

× × × ×

अपनी इस कमी को समझ कर कवि ने 'रसवन्ती' की लम्बी भूमिका में अपने दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न किया है। 'विजनवती' में भी श्री इलाचन्द्र जोशी ने ऐसी ही बड़ी भूमिका लिखी थी। दोनों मानसिक अस्वास्थ्य के रोगी प्रतीत होते हैं। कितने पाठकों ने इन लम्बी भूमिकाओं को पढ़ने का कष्ट उठाया होगा, यह तो परमात्मा ही बता सकता है ! परन्तु यह सुगमता से कहा जा सकता है कि यदि गोस्वामी तुलसीदास जी इसी पद्धति पर चले होते तो गद्य में भूमिका-रूप उन्हें अयोध्याकाण्ड के बराबर एक दूसरा काण्ड लिखने पर मजबूर होना पड़ता !!

ऐसी भूमिका के पूर्व, दिनकर ने पद्य में भी एक भूमिका लिख दी है। यह भी लगभग १६ छन्दों में है। इसको मंगल-वचन कहना अच्छा रहेगा। इसका एक छन्द है :—

निपुण गायकों की रानी, इनकी भी एक कथा है
सुन लो, क्या कहने आये हैं, ये तुतली-सी लय से।

'रसवन्ती' के गीत 'तुतली वाणी' में नहीं बोलते, तुतली-सी वाणी में भी नहीं। तुतली-सी लय में बोलते हैं। छायावाद की भाषा में, गीतों को बच्चों के रूप में देखा जा सकता है, "तुतलाते बच्चों के रूप में भी"। परन्तु कहा यह ही जायगा कि यह गीत

"तुतली-सी लय में कथा कह रहे हैं। दूध के दाँत वालों की 'लय' तुतली ही होती है वाणी ठीक होती होगी!

रुनझुन-झुन पैंजनी चरण में
केश कुटिल घुँघर ले
नील नयन, देखो माँ! इनके
दाँत धुले हैं पय से।।

किसी बच्चे के पैर में 'पैंजनी' 'रुनझुन-रुनझुन' का आभास करती है परन्तु 'रसवन्ती' के गीतों की पैंजनी [रुनझुन-रुनझुन—(ऋण) रुन = रुनझुन-झुन] केवल 'रुनझुन-झुन' की आवाज ही करती है। क्यों? का उत्तर 'नीरसवन्ती' में मिला करता है; 'रसवन्ती' में नहीं इसमें तो वेदान्त सूत्र की भाषा है "रुनझुन-झुन पैंजनी चरण में" इतना कह कर कवि छोड़ देता है। पाठक अपने दिमाग में भाषा को इस तरह ठीक कर सकते हैं कि "रुनझुन-झुन करके पैंजनी चरणों में बजती हैं" या ऐसी बजनेवाली पैंजनी गीतों के चरणों में हैं। कवि की तो केवल सांकेतिक भाषा है।" "दाँत दूध के हैं—" यह न कह कर वह केवल यह कह देता है कि इनके दाँत पय से धुले हुए हैं। यह 'पय' मातृस्तन का है या बाजार का—कवि नहीं बतलाना चाहता!

यह तो मंगल वचन-की भाषा है। इसमें बता ही दिया गया है कि इन गीतों के दाँत दूध से धोकर साफ़ कर दिये हैं। दाँत देखो तो स्वच्छ पाओगे। पैरों में पायजेब हैं जब नाच-गान होगा तो यदि एक 'रुन' टूट न गया होता तो समताल की भनक पड़ती परन्तु अब 'तुतली लय' सुनाई देगी। "फिर भी इनकी कथा सुन ही ली जानी चाहिए" कवि ऐसी प्रार्थना कर रहा है। कथा सुनते समय निम्नलिखित आशय ध्यान में रखना चाहिए—

रुनझुन-रुनझुन का 'रुन' टूटा,
गाते तुतली लय से।
बात-बात में, "दूध-धुले" कह,
दाँत दिखाते हय से॥

× × × ×

जहाँ प्रारम्भ में ही यह हाल हो वहाँ भाषा और भाव में किसी सौंदर्य की आशा करना व्यर्थ है। बिना विशेष टीका-टिप्पणी के, 'कथा' के निम्नलिखित उद्धरण पढ़ लेने चाहिए:—

(१) चिलचिलाती धूप का यह देश
कल्पने ! कोमल तुम्हारा वेश
लाल चिनगारी यहाँ की धूल
एक गुच्छा तुम जुही के फूल

एक कली नहीं; एक फूल नहीं, फूलों का गुच्छा और वह भी जुही के फूलों का गुच्छा !! कहाँ दिखाई पड़ेगा ? शायद वृक्ष या बेल से तात्पर्य हो !! शरीर तो कोमल होता ही है। परन्तु शायद फैशनेबिल 'वेश' को कोमल वेश कहा जाता हो ! "यहाँ की धूल लाल चिनगारी है"—धूल का कण नहीं; पूरी सामूहिक धूल एक लाल चिनगारी बताई है, उसी तरह जैसे फूलों का गुच्छा बताया गया है। कहाँ की धूल का वर्णन है ? सहारा मरुभूमि की क्या ? कवि नहीं उत्तर देते। समझ लो 'रसवन्ती' की ही धूल है।)

(२) 'ओस-तृण' को आज सिर्फ विसूर
चल रहा मैं बाग-बन से दूर

'ओस-तृण' क्या ? 'बाग-बन' !! क्या दोनों कहीं मिले हुए पाए गए थे ? 'सिर्फ' की क्या जरूरत थी ?

(३) बालुओं का दाह मेरे ईश
ओं गुमरते दर्द की यह टीस

तुकबन्दी की टीस प्रतीत हो रही है

(४) ओदी आँच धुनी बिरहिणि की;
नहीं लपट की चहल-पहल सखि !
तृणवत् धधक-धधक मत जल सखि !!

घास तो धधकते ही आनन-फानन में स्वाहा हो जाती है। 'धधक-धधक' में बहुत देर तक जलती रहने का आशय निहित है, जो 'तृणवत्' में असंभव है। 'ओदी आँच' 'विरहिनि की धुनी' 'लपट की चहल-पहल' 'रसवन्ती' में रस बरसा रहे हैं !!

(५) मंगलमय हो पंथ सुहागिनि
यह मेरा बरदान
हरसिंगार की टहनी-से
फूलें तेरे अरमान

यह नववधू को आशीर्वाद है !! हरसिंगार के फूल थोड़ी देर तक ही ठहरते हैं। थोड़ी देर में ही झड़ जाते हैं। यह पता भी नहीं चलता कब झड़ गए !! कवि कहता है "हे नव बधू ! तेरे भी अरमान इसी भाँति थोड़ा फूलकर एक दम ही झड़ जायँ !!"

(६) छाया करती रहे सदा
तुझको सुहाग की छाँह
सुख दुख में ग्रीवा के नीचे
रहे पिया की बाँह

'छाया' और 'छाँह' में क्या भेद है ? क्या यह कहना ठीक होगा कि वृक्ष की 'छाया' 'छाँह' करती रहे ? "तुझको" छाया

करती रहे या 'तेरे ऊपर' ? 'पिया की बाँह' तेरी ग्रीवा के ही नीचे सुख-दुख में दबी रहे ! बिलकुल तकिया का काम दिन-रात लेती रहना !! समझी ! नवबधू। काम करने को घर से बाहर मत जाने देना।

(७) वृत्त रीझ कर किसे करेंगे
पहला फल अर्पण-सा
झुकते किसको देख पोखरा
चमकेगा दर्पण-सा

साहित्य का दम घुटता नज़र आ रहा है !! 'अर्पण' करेंगे ? या 'अर्पण-सा' करेंगे ? तालाब के पानी में, यदि चहरा दिखाई पड़े, तो 'तालाब दर्पण-सा चमकता हुआ है"—ऐसा तो कोई नहीं कहा करता। 'पोखरा' से भी अधिक ग्रामीण शब्द होता तो साहित्य की अभिवृद्धि का अवश्य सूचक होता।

× × ×

यह तो थोड़े से उदाहरण हैं। 'रसवन्ती' में प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसे उदाहरण मिल जावेंगे !! कई पत्र-पत्रिकाओं में 'बालिका से बधू' में स्वाभाविक चित्रण बताया गया है। कितना स्वाभाविक है ? निम्नलिखित पंक्तियों से पता चलेगा:—

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम-सी
पपनी पर आँसू की बूंदें मोती-सी, शबनम-सी
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी
यौवन की बिनती-सी भोली गुमसुम खड़ी शरम-सी
पीली चीर कोर में जिसके चकमक गोटा-जाली
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली

चमचम सी बेंदी है; पपनी पर दो बूँदें शबनम-सी, मोती सी हैं।

नरम-सी, शरम-सी, बिनती-सी, गिनती सी—न जानें क्या-क्या सी है ? अवश्य स्वाभाविक वर्णन है। एक नरम सी टहनी शायद जेवर या चूड़ियों से लदी हुई है। और

मुस्की आ जाती मुख पर
हँस देती. रोती आँखियाँ

स्वयं तो हँस देती है; पर उसकी आँखें रो देती हैं !! ऐसे कहना अच्छा रहेगा कि वह तो बिचारी कहीं की नहीं है। उसके पैर चल देते हैं, उसके हाथ काम कर देते हैं; उसके दाँत खाना खा लेते हैं; उसके कान सुन लेते हैं; उसकी नाक सूँघ लेती है; उसका मुँह हँस देता है और उसकी आँखें रो देती हैं ! कितना स्वाभाविक वर्णन है ? परन्तु हँसती तभी है जब 'मुस्की' मुख पर आ जाती है। अगर 'मुस्की' चेहरे पर न आवे तो वह नहीं हँसेगी ! 'मुस्कराहट' और 'हँसने' में फ़र्क़ हो या न हो; नववधू तभी हँसेगी जब मुस्कराहट की मुस्की चेहरे पर आ जावे !! कितना स्वाभाविक वर्णन है ?

और जब बिदाई होती है तब और भी अधिक स्वाभाविक वर्णन हो जाता है:—

भींग रहा मीठी उमङ्ग से
दिल का कोना कोना
भीतर-भीतर हँसी देख लो
बाहर - बाहर रोना

'मीठी उमङ्ग' शायद 'गंग की तरङ्ग' होती होगी जो गीली रहती होगी या पानी ले जाकर दिल का कोना-कोना भिगो देती होगी। कवि का अर्थ यह है कि मीठी उमङ्ग दिल के कोने-कोने में समा गई है; और भाषा कैसी ही हो—यह भाव ठीक-ठीक ही चित्रण हुआ है। परन्तु छन्द का दूसरा चरण एक ऐसी कन्या का चित्र है जिसे अपने माता, पिता, भाई, बहिन, घर द्वार का किंचित्

मोह नहीं मालूम होता है। जिस घर में वह पाली गई, जिस घर में उसके १६ बरस कटे हों क्या यह संभव है कि उस घर को प्रथम-प्रथम छोड़ते समय उसे दुःख न होता होगा? क्या यह स्वभावतः एक भोली-भाली कन्या का ही चित्रण है? क्या यह संभव हो सकता है कि बिछोह के समय उसकी माता का हृदय दुःख से फटा न जा रहा हो! क्या 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में ऋषिवर कण्व का यह कहना झूठा था कि उनका हृदय अधीर हो रहा है और जब उन सरीखे वन में रहने वाले तपस्वियों का यह हाल है तो न जाने गृहस्थों का तो क्या हाल होता होगा? माता, पिता, भाई, बहिन का जो हाल होता है; क्या उनका सच्चा दुःख कन्या के हृदय को प्रभावित किए बिना रह सकता है? वास्तव में, विदा के समय, कन्या के हृदय में सुख-दुःख की तरंगे बारी-बारी से आती रहती हैं। मिश्रित भावनाएँ, धूप-छाँह की तरह, उसके हृदय में समा जाती हैं। पति से मिलने की उमङ्ग का सुख एक ओर, तो अपने घर, माता, पिता, भाई, बहिन से बिछुड़ने का दुःसह दुःख दूसरी ओर बना रहता है। यही सोचकर कालिदास ने शकुन्तला से कहलवाया है कि "आर्यपुत्र के दर्शन की अभिलाषा बढ़ती जाती है परन्तु आश्रम छोड़कर आगे बढ़ने को पैर तो साथ दे ही नहीं रहे।" आगे चलते हुए भी कभी शकुन्तला वन-ज्योत्स्ना से लिपट जाती है कभी आम्र की मंजरियों से बात करने लगती है, कभी हिरण के बच्चे से मिलने लगती है, कभी विह्वल होकर रोने लगती है और फिर बढ़ती चली जाती है। वास्तव में, यही स्वाभाविक वर्णन हो सकता है। "भीतर-भीतर हँसी" में तो भाव व्यक्त नहीं हो सकता। ऐसे समय, हँसी तो किंचित् भी नहीं होती। 'उमङ्ग' हुआ करती है और उमङ्ग और घर से बिछुड़ने का दुःख दोनों हृदय के अन्दर ही रहते हैं। 'दिनकर' का वर्णन बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होता है। साथ साथ अनुभव और सूक्ष्म निरीक्षण की कमी का आभास भी दिखाई देता है।

श्री नरेन्द्र की पाँच रचनाएँ

(१ प्रभात फेरी, २ प्रवासी के गीत, ३ पलाशवन, ४ मिट्टी और फूल, और ५ कामिनी।)

श्री नरेन्द्र एक युवक कवि हैं। उनकी प्रधान रचना 'प्रभात फेरी' में सुगठित एवं आवेगमय भाषा की प्रधानता है। काव्य-प्रतिभा एवं भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ मौलिक विचारों के कारण उनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। जब 'बबूल' के काँटेदार वृक्ष के लिए हम पढ़ते हैं :—

मैं हूँ एक समान अहर्निशि
एक रूप प्रतिवार
मेरी जयश्री-विश्व-विजय-श्री—
यह काँटों का हार"

तो भाषा और भाव का सुन्दर सम्मिलन हमें उनकी ओर बरबस खींच ले जाता है। 'इतिहास' पर उनकी कविता सर्वथा मौलिक ही समझी जायगी :—

जलते रहते बुझते रहते
पर जलते फिर बुझने वाले
इतिहास सिखाते हैं कैसे
उठ जाते हैं गिरने वाले

इसी प्रकार 'रूढ़िवाद' पर ये पंक्तियाँ मार्के की हैं।

यह मूर्तिमान जाग्रत मसान
अरमान और इच्छाओं का
यह कारागार, भार भूका,
जिसको जग कहता है समान।

है जीने का अधिकार जहाँ
हमको क़िस्मत की मर्ज़ी पर
जड़ रूढ़िवाद के शव को जो
जीवित कहता है, आह आज !
पर पागल कवि, क्या इसे नष्ट कर पाएगा तेरा विवाद ?
निष्ठुर पाषाण-शिलाओं से निर्मित है, दृढ़ गढ़ रूढ़िवाद !

इसी तरह 'प्रयाग' पर निम्नलिखित पंक्तियाँ अपना स्वतंत्र स्थान हमारे हृदय में बना लेती हैं :—

दुख भी हलका हो जाता है,
अब देख-देख परिवर्तन-क्रम
फिर कभी सोचने लगता हूँ,
यह जीवन सुख-दुख का संगम
बेबसी सदा की नहीं,
सदा की नहीं ग़ुलामी भी मेरी
रे काल क्रूर, क्या कभी नहीं,
फिर करवट बदलेगी तेरी !

हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि 'प्रभात फेरी' में भाषा दोष नहीं हैं। ये तो बड़े-बड़े कवियों की रचनाओं में भी मिल जाते हैं। परन्तु जहाँ गुणों की भरमार होती है, नवीन भाव और उक्ति वैचित्र्य और भाषा में एक रूपता होती है, वहाँ साधारण भाषा-दोष खटकते नहीं। 'प्रभात-फेरी' के गुणों में भाषा दोष छिपे हुए पड़े हैं। वे खटक नहीं सकते। 'प्रभात फेरी' में 'अलिदल,' 'सतत प्रतीक्षा', 'अनन्त प्रतीक्षा', 'भिखारिन', 'वेश्या', 'रुद्ररूप भारत', 'शिव-स्तुति' और 'जरा चिन्तन' पर कविताएँ पढ़ने के योग्य हैं।

'प्रभात-फेरी' के बाद कवि ने 'प्रवासी के गीत' नाम से अपनी रचनाएँ प्रकाशित की हैं। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्टवादिता का अभिनय करते हुए प्रकट किया है, हम यह नहीं

मान सकते कि यह क्षय रोग से ग्रसित कवि की रचनाएँ हैं। कहीं-कहीं भाव बड़े सुन्दर मिल जाते हैं।

साथ ही यह भी सही है कि 'प्रवासी के गीत' में कहीं-कहीं भाषा शिथिल हो गई है, कहीं-कहीं भाव में मौलिकता नहीं रही है और कल्पना की कमी भी कहीं-कहीं प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है।

'प्रवासी के गीत' के बाद तीन रचनाएँ (१) 'पलाश वन', (२) 'मिट्टी और फूल' और (३) 'कामिनी'—एक के बाद एक, बड़ी शीघ्रता से, निकलती चली आईं। यदि ये रचनाएँ शुद्ध, सुगठित, मधुर और ओजमयी सशक्त भाषा में होतीं, यदि ये शब्द-सौंदर्य से भावमय चित्रों को प्रस्तुत करने में सफल हुई होतीं तो अवश्य ही हिन्दी की गौरवमयी रचनाएँ समझी जातीं। परन्तु यह देख कर अत्यन्त खेद होता है कि 'प्रभात-फेरी' तो दूर—'प्रवासी के गीत' के मुकाबिले में भी यह तीनों रचनाएँ कहीं नीचे दर्जे की हैं।

× × × ×

साहित्यिक वातावरण से दूर—वास्तविक जगत में सत्य माने हुए एक सिद्धान्त पर हम कविवर का ध्यान आकृष्ट करना उचित समझते हैं। कृषि-शास्त्र या अर्थशास्त्र में 'घटती पैदावार के उसूल' या 'उत्पत्ति में न्यूनता के सिद्धान्त' का बड़ा महत्व है। साधारण किसान इससे भली भाँति परिचित होता है। किसी जमीन के टुकड़े (खेत) को जल्दी-जल्दी जोतने और बोने का परिणाम यह होता है कि उसकी पैदावार धीरे-धीरे घटने लगती है और वह दिन आ जाता है जब खेत बंजर हो जाता है—उस भूमि की उर्वर शक्ति जाती रहती है। साधारण किसान पैदावार कम होते देखते ही दो साल को उस खेत को छोड़ देता है। वह 'पड़ती' की जमीन कहलाती है। अँग्रेजी में इस सिद्धान्त को Law of Diminishing Returns कहते हैं।

जिस प्रकार यह सिद्धान्त भूमि की उर्वर-शक्ति पर लागू होता

है उसी प्रकार मस्तिष्क की कल्पना-शक्ति पर भी लागू होता है। जल्दी-जल्दी मस्तिष्क से काम लेते रहने पर कल्पना-शक्ति कम होती जाती है। आधुनिक रचनाओं में इस सिद्धान्त का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'साकेत' इसका अच्छा उदाहरण है। 'यामा' में बहुत से छन्द उदाहरण रूप भरे पड़े हुए हैं। पन्त जी और निरालाजी की कल्पना-शक्ति उचित विश्राम के अभाव में क्षीण होती जाती है। 'दिनकर' का हाल हम पहिले देख चुके हैं। अँग्रेजी में कविवर वर्डस्वर्थ (Wordsworth) की बहुत सी रचनाएँ इसी तरह की हैं। इसे मानसिक अस्वास्थ्य का ही एक रूप माना जाता है; परन्तु है यह असल में 'घटती पैदावार' का ही सिद्धान्त।

श्री नरेन्द्र जी की पिछली तीन रचनाओं में इस सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण मिलता है। और उनके लिए उचित काल तक विश्राम लेना अनिवार्य है अन्यथा भविष्य में यदि और रचनाएँ होंगी तो उनमें भाषा तो शिथिल होगी ही—कल्पना भी नाममात्र को ही दिखाई पड़ेगी।

× × × ×

'कामिनी' का प्रारम्भ कवि ने बड़े अच्छे ढंग से किया है। प्रारम्भ में भाषा भी अच्छी है। परन्तु मध्य-भाग तो बिलकुल बिगड़ गया है और फिर कहीं-कहीं तो अत्यन्त साधारण भाव भी ठीक तौर से व्यक्त नहीं हो पाए। यह पता नहीं चलता कि 'कामिनी' में 'कामायिनी' की नक़ल है या 'मधुकण' के अन्तिम भाग का भावापहरण। 'यामा' के बहुत से भाव और शब्द कवि ने अपनाने का प्रयत्न किया है और 'साकेत' के नवम् सर्ग के नाना छन्द और 'उर्मिला' के विलाप के भाव लेकर कवि ने 'कामिनी' को सजाने की कोशिश की है।

पुनरुक्ति दोष तो 'कामिनी' में इतना भरा पड़ा है कि जगह-जगह यही लिखा मिलता है :—

कामिनी, मैं जा रहा हूँ दूर—कोसों दूर,
बहाए ले जा रहा मुझको नियति-गति-पूर
विवश हूँ, बढ़ चले मेरे पाँव अपने आप
कामिनी, मैं करूँ क्या, मुझको नियति का शाप

× × × ×

तुम कहोगी—जा रहे हो क्या न अपने आप,
किन्तु बाँधे है मुझे निष्ठुर नियति का शाप !

कई छन्द बिलकुल वैसे के वैसे ही बार-बार दुहरा दिए गए हैं जिससे विलाप भी हास्योत्पादक हो गया है।

यह भी पता चलता है कि कवि के नव-हृदय को चन्द्रमा और चाँदनी ने अत्यन्त प्रभावित किया है। 'प्रवासी के गीत' में--

(१) "आज उज्ज्वल चाँदनी को दिन समझ कर"
(२) "चाँदनी के चार दिन थे मधुमिलन के दिन हमारे"
(३) "कह सकेगा कौन कड़वी बात ऐसी चाँदनी में"
(४) तुम चन्द्र किरण-सी खेल रही हो"

अनेक पंक्तियाँ मिलती हैं। 'पलाशवन' में फिर 'चाँदनी' और 'चाँदनी में भ्रम' आ जाते है। 'मिट्टी और फूल' में (१) चाँदनी (२) इन्दु से (३) उजाली रातें (४) पंचमी आज (५) पंचमी का चाँद (६) द्वादशी का इन्दु (७) नवमी की चाँदनी इत्यादि अत्यन्त साधारण कोटि की कृतियाँ मिल जाती हैं। और 'कामिनी' में तो चाँदनी स्थल-स्थल पर बिखर रही है।

नरेन्द्रजी की 'चाँदनी' कितनी बेतुकी-सी मालूम होती है यह 'मिट्टी और फूल' के निम्नलिखित छन्दों से पता चल जायगा--

(१) हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली-सीरी धीरी पुरवय्या !

पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चन्दा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !

"लजीली सीरी धीरी पुरवय्या" "चपलप्राण चन्दा" और "चमचम नय्या" में भाषा ही बिचारी नीम की डाल सरीखी हिल रही है। शायद पंचमी की रात्रि को इसी का महत्व है !

(२) आज चाँदी की कटारी की तरह
दीखता है पंचमी का चाँद यह !
देख इसको कट सकेगी रात कुछ,
और भी—कट जायगा कुछ तो विरह !

× × × ×

देख बादल—लगा रेबड़ खड़ी भेड़ !
देख कैसे मौन साधे खड़े पेड़ !
देख तारे भी खिले दो-चार जो,
उड़ वहाँ तू कल्पना को लगा एड़ !

यहाँ चाँदी की कटारी की तरह चाँद कह-कह कर बिरह काटा जा रहा है। कितनी सुन्दर तरह से कल्पना को एड़ लगाई जा रही है ? भेड़ों का रेबड़ सचमुच इस एड़ की प्रशंसा कर रहा है। पंचमी के चाँद को अवश्य भेड़ें मनमोहक प्रतीत होती हैं !!

(३) दूध-धुला आकाश दीखता लिपी फेन से धरती,
सुघर चाँदनी लिपे-पुते में पाँव न धरती, डरती;
अचक-मचक यों धर धीरे पग सुधि भी लगी उतरने !

यह नहीं बताया गया, किसके फेन से धरती लिपी हुई या 'लिपी-पुती' थी। शायद गोबर के फेन से हाल ही लीपी गई थी। कहीं पाँव न गोबर में 'सन' या 'लिस' जाय, इसी डर से चाँदनी

पैर रखने में डर रही थी और शायद इसीलिए सुधि भी 'अचक-पचक' कर कल्पना में एड़ लगा रही थी !

पंत जी की 'चाँदनी' के ये छन्द कितने सुन्दर हैं !

वह एक बूँद संसृति की
नभ के विशाल करतल पर,
डूबे असीम सुखमा में
सब ओर छोर के अन्तर।

× × × ×

वह शशि किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोई,
अपनी ही छवि से सुन्दर।

कहाँ यह स्वाभाविक वर्णन और कहाँ 'मिट्टी और फूल' का अस्वाभाविक वर्णन !!

× × ×

हिन्दी की नवीन रचनाओं में इधर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से दिखाई पड़ने लगी हैं। सुगमता के लिए हम इन प्रवृत्तियों को 'कुल्हड़' और 'अल्हड़' प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं।

पत्तल, दोना, और शिकोरा के साथ मिट्टी का 'कुल्हड़' या 'डबुआ' बुरा नहीं मालूम होता। वहाँ पर गिलास बुरा मालूम देगा। परन्तु जहाँ थाली, कटोरी और गिलास मौजूद हों—या जहाँ प्लेट, तश्तरी और रक़ाबी और गिलास पहिले से रखा हुआ हो वहाँ बाक़ी वस्तुओं पर कोई उज्र न करके केवल गिलास पर एतराज़ करना सही नहीं जँचेगा। वहाँ अनावश्यक होते हुए भी, यह कहना कि कुम्हार के यहाँ से 'कुल्हड़' मँगा कर ही हम पानी पिएँगे—समीचीन प्रतीत नहीं होगा।

हिन्दी के कुछ नवीनता प्रेमी कवियों में आज यह 'कुल्हड़'

प्रवृत्ति बुरी तरह दिखाई दे रही है। खड़ी बोली में सरस शब्द यद्यपि आसानी से मिल जाते हैं तो भी गाँव में जाकर 'कुल्हड़' सरीखा नीरस शब्द खोज कर कविता में कहीं न कहीं ठूँस देना इस मनोवृत्ति का परिचायक है। समालोचक महोदय इसको या तो 'शुद्ध प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र' कह कर या 'सीधी सादी अभिव्यक्ति' कह कर प्रशंसा कर देते हैं। गाँव में जाकर वहाँ के गवैयों से यदि गीत सुने जायँ तो ग्रामीण साहित्य के अगाध सागर में भी अच्छे-अच्छे मधुर एवं सरस शब्द मिल जायँगे, परन्तु उनको छोड़, साधारण बोल-चाल के एक-दो नीरस शब्दों को खड़ी बोली के परिष्कृत शब्दों के बीच में बैठा देना ही मानों इन कवियों के लिए प्रगतिवाद का प्रमुख कार्य रह गया है। दरअसल ऐसे नव कवि

"इस पै मचले हैं कि हम ज़ख्मे जिगर देखेंगे"

भाषा के 'ज़ख्मे जिगर' के उदाहरण 'मिट्टी और फूल' और 'कामिनी' में बहुत मिल जायँगे। एक जगह ग्रामीण साहित्य का एक सरस गीत:—

चौमुख दिवला बार--
धरूँगी चौबारे पै आजु
सखीरी, चौमुख दिवला बार

कवि ने अपना बना कर, खिचड़ी भाषा में नीरस करके, 'कामिनी' में रख दिया है। यदि यह ग्रामीण साहित्य में ही बना रहता तो इसकी सरसता न नष्ट होने पाती!

एक दूसरे स्थल पर कृत्तिका, मृगशिरा एवं सप्तऋषि का वर्णन आधी ग्रामीण आधी खड़ी बोली में रख दिया है जो खंड-काव्य की अवश्य ही 'शोभा' बढ़ा सकेगा! पढ़ने योग्य है। लिखा है:—

हलकी झलमल ज्योति जगाता
सात सखी का झूमका!

पच्छिम ओर गगन में आया हिन्नी पैना
नीलम नग लुब्धक डबडब-छलछल दो नैना,
मेरी आँखों में मोती—
दृगजल कपोल युग चूमता !
ध्रुव के चारों ओर सप्तऋषि, ग्रह सूरज के
घूम रहे, मैं भी घूमूँ चहुँदिशि पद-रज के
ज्यों परिक्रमा में पृथिवी की
नित्य कलाधर घूमता !

कृत्तिका पुंज को 'सात सखी का झूमका', मृगशिरा को 'हिन्नी पैना' लिखकर 'झूमका' और 'चूमता' 'घूमता' की तुक मिलाई है। 'नीलम नग', 'डब डब', 'छल छल', 'पच्छिम की ओर' का क्या अर्थ है ? भाषा भी कवि के 'पद-रज' के 'चहुँदिशि' घूम रही है।

ऐसी तुकबन्दियों के लिए सैयद 'इन्शा' की 'टोन' में 'टोन' मिला कर आसानी से कहा जा सकता है :—

न संस्कृत, न अर्बी; न फ़ारसी, न तुरकी
न हिन्दी, न उर्दू; न गाँव की, न पुर की
न सम की, न राग की; न ताल की, न सुर की
भाषा है 'कामिनी' के कवि-कुल-गुरु की !!

एक स्थल पर लिखा है :—

घायल हिरनी सी घबड़ाती
बिछुड़े सारस सी डकराती
मैं रातों नाम रही रटती।

सारस का 'डकराना' भैंस के डकराने से कम नहीं है। गाँव वाले यदि सारस का 'डाकना' कहें तो कवि लोग 'डकराना' कहने

लगेंगे !! और हंस तो शायद आधुनिक कविता में 'रेंकने' लगता होगा !!

कहाँ तो सारस का भैंस की तरह 'डकराना' और कहाँ—

टिटिहरी की ट्रिल टिरिल ट्रिल
शून्य नभ में खो रही !

शायद यह किसी फ्रन्ट पर टिटहरियों की 'ट्रिल' हो रही है या पन्त जी की नक़ल ? ख़ैर तुक तो मिलानी ही अच्छी !! मिलाइए।

गिलहरी की 'ग्रिल गिरिल ग्रिल'
• काव्य में अब हो रही !

(२)

साहित्य में 'कुल्हड़' प्रवृत्ति के उदाहरण श्री नरेन्द्र की 'कामिनी' में अच्छे-अच्छे मिल जायँगे। हिन्दी के कुछ नवीनता प्रेमी-कवियों में आजकल 'कुल्हड़ प्रवृत्ति' बुरी तरह दिखाई दे रही है। खड़ी बोली में यद्यपि सरस शब्द आसानी से मिल जाते हैं. फिर भी अपनी कविता को 'ग्राम्या' बनाने के लिए कुल्हड़ सरीखे देहाती तथा नीरस शब्द खोज-खोज कर अपनी कविता में कहीं न कहीं कस देना, इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। यथा :—

(१) चल री, कहती मुखरा पायल
तट चिच्छल, जाएँ कहीं चिछल

(२) सोए आज समय के प्रहरी
बहती जाती नदिया गहरी,
धारा में उतरी दोपहरी
उछल रहे चाँदी के टुकड़े
लहर नाचतीं, हंसतो मणियाँ
चहक रहे चिड़ियों के बच्चे,
बाज रही छन छन पाँजनियाँ

धारा में दोपहरी कैसे उतर आई ? गहरी नदी में क्या उतरते डर लगता था ? या धारा किनारे पर ही थी जहाँ उतर आई ? चाँदी के टुकड़े उछलने से और 'मणियों' के हँसने से क्या तात्पर्य है ?

(३) कींच-काँदों से भरे पर श्रमिक जन के वास,
जहाँ मच्छर-मक्खियों से रात दिन का त्रास
है घिनौने से घिनौने जहाँ अगणित रोग,
छिन गया है आज जिनसे नींद का सुख भोग !

'कींचों-काँदों' कर दिया जाता तो "घिनौने से घिनौने" का भाषा में भी दर्शन हो जाते !

(४) हाय मनुज समाज, तेरे सड़े दोनों छोर
हैं उनींदे श्रमिक भी औ धनिक भी उस ओर !

उनींदे श्रमिक ही हैं या उनींदे धनिक भी ? दोनों 'उस ओर' हैं तो 'इस ओर' कौन रहा ? कींच-कांद या मच्छर-मक्खियाँ ?

कुल्हड़ प्रवृत्ति के नमूनों की नरेन्द्र की रचनाओं में भरमार है। 'मिट्टी और फूल' में भी ऐसे ही उदाहरण स्थल-स्थल पर मिल जाते हैं। यथा--

(१) दूर सुनाई देती थी वह
सरपट टापों की पटपट
कभी रात के सूनेपन में
नन्हीं बूँदों की आहट—

बूंदों की 'आहट' (यानी उनके पैरों से चलते समय होने वाला शब्द) घोड़ों के 'सरपट टापों की पट पट' से भी अधिक आवाज़ कर रही थीं—परन्तु वह बूँदें 'नन्हीं' ही बनी रही थी। सो भी दूर से सुनाई देती थी और कोई टीन भी नहीं थी !

(२) छोड़ समन्दर की लहरों की
नीलम की शीतल शय्या
आती थी वह बंगाले से
जंगल जंगल पुरवय्या

समुद्र की शीतल शय्या हो भी सकती है और वह एक बड़ा नीलम माना भी जा सकता है। परन्तु लहरों के ऊँचे चढ़ने और फिर नीचे उतरने में शय्या तो झूला सी झूलती प्रतीत होगी और ऐसा झूला शायद पालने का नीलम माना जा सकेगा!

'पुरवय्या' ऐसे पालने को छोड़ कर चल दी। इसीलिए शायद ग्रामों और नगरों को बड़े यत्न से बचाती हुई, जंगल जंगल होती हुई, कवि के घर पर पहुँची थी!

(३) कुरता चिपका जाता तन पर,
धोती करती मनमानी;
छप छप करते थे जूते जब
बहता था सिर से पानी

सीदी-साधी अभिव्यक्ति है, धोती मनमानी कर रही थी! कमबख्त कहीं की, तभी तो 'कंट्रोल' आया। और जब सिर से पानी बहता था तभी जूते छप-छप करते थे। सिर से पानी नहीं बहता था तो छप-छप नहीं करते थे। सिर भी महादेवजी का होगा और तभी सिर से गङ्गा का पानी बहने लगा होगा!

(४) भरी भरन उतरी सिर पर से
कहाँ साईकिल चलती थी
घर के द्वारे कींच-कांद थी
चप्पल चपल फिसलती थी।

(५) आई है बरसात यहाँ भी—
आज ऊभना, कलभर था!

होते यों दिन-रात यहाँ, पर
अन्तर धरती-अम्बर का !
(६) यहाँ नहीं अमराई प्यारी
यहाँ नहीं काली जामुन,
है सूखी बरसात यहाँ की
मोर उदासा गर्जन सुन !

'द्वारे', 'कींच-कांद', 'ऊझना, 'मोर उदासा' से कुलहड़ी भाषा का सौष्ठव खूब बढ़ रहा है।

(७) कौंध रही बिजली रह रहकर
चुँधिया जाती हैं आँखें,
मन मारे मन पंछी बैठा है
समेट भीगी पाँखें ॥

यह 'मन-पंछी' विचारा दुखी है। तभी तो पाँखें समेट कर बैठा हुआ है। कवि अपना मन मार रहा है सो तो ठीक है। परन्तु कवि का 'मन-पंछी' भी अपना मन मार रहा है। यही तो काव्य-चमत्कार है। चक्र के भीतर चक्र। और आँखें किसकी "चुँधियाती होंगी", मनपंछी की या कवि की ?

(८) डोल रहे होंगे पटबिजना
जलते जैसे चूर कपूर

जुगनू जल रहे होंगे, यानी 'चूर कपूर' की भाँति जल रहे होंगे ? या दोनों हो रहे होंगे ? जल जायँगे तो डोलेंगे कैसे ?

(९) भरी पोखरों में
भैंसों की जहाँ पल्टनें फट पड़तीं !

बरसात में और कुछ दृश्य ही नहीं देख पाया ! भैंसों की कितनी पल्टनें होंगी ? गाँव तो छोटा-सा दिखाई पड़ता है !

भरे हुए पोखरे ? या 'भरी पोखरे' ? 'महिषासुर' की माया में कवि अपने आपको भूल रहे हैं !

(१०) इतना ओछा हूँ मैं--छिन में
कर लेता हूँ मन छोटा !
ओखा हूँ मैं--और नहीं तो
कहता क्यों जग को खोटा ?

'ओछा' और 'ओखा' का फर्क कितना बारीक है ?

'कुल्हड़' प्रवृत्ति के साथ-साथ 'अल्हड़' प्रवृत्ति के उदाहरण भी श्री नरेन्द्र के साहित्य में काफ़ी मिल जायँगे। 'अल्हड़' शब्द में व्यवहार-ज्ञान एवं अनुभव की कमी के साथ-साथ, असावधानता के साथ, जिधर मन हो उधर चल देने का भाव निहित है।

एक कविता 'गाँव की धरती' 'मिट्टी और फूल' के अन्तर्गत है। कई समालोचकों ने इसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। यह कविता इस प्रकार प्रारंभ होती है:—

चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती !
खेतों खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती !
पंचमी आज, ढलते जाड़ों की, इस ढलती दोपहरी में
जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती !

भावों में कोई चमत्कार तो नहीं है। दोपहरी से गर्मी का बोध होता है। परन्तु ढलते जाड़ों की ढलती दोपहरी शायद ठंडी हो गई होगी। जब तिथि बताई गई तो महीना भी बताया जा सकता था। 'ढलता' और 'दोपहरी' शब्द निरर्थक एवं भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। एक सर्दी, दूसरा गर्मी का बोध कराता है !

दूसरे छन्द में शहर वालों पर बेतुका-सा व्यङ्ग है :—

शहरों की बहू-बेटियाँ हैं
सोने के तारों में पीली

सोने के गहनों में पीली
यह सरसों सी पीली धरती !

'सोने के तारों से पीली' का मतलब क्या 'पीलिया रोग' से बीमार है ? प्रत्येक शहर वाले के पास यदि सोने के ज़ेवर होते तो प्रगतिवाद की आवश्यकता ही क्या थी ? कवि समझता है कि शहर वाले सभी धनिक होते हैं और शहर वालों और गाँव वालों के आपस में सम्बन्ध ही नहीं होते। शहरों की बेटियाँ शहरों में ही ब्याही जाती हैं, इसीलिए शहरों की 'बहू-बेटियाँ' सभी पीली घोषित कर दी गई हैं ! अब तीसरा छन्द जिसकी प्रशंसा की गई है यह है :—

सिर धरे कलेऊ की रोटी
ले, कर में मट्ठा की मटकी,
घर से जंगल की ओर चली
होगी बटिया पर पग धरती !

'अल्हड़' प्रवृत्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। पंचमी की ढलती दोपहरी में 'कलेऊ' का क्या काम ? कलेवा सुबह होता है या शाम को ? या कुछ न कुछ कविता रच डालनी ही, चाहे उपयुक्त हो या अनुपयुक्त ? इसके बाद के छन्द में भी "हो रही साँझ, आ रहे ढोर" का ज़िक्र किया गया है। फिर क्या पंचमी का प्रदोष था जो 'साँझ' को 'कलेऊ' ले जा रही थी ? इसमें भी सन्देह होता है कि कवि ने ग्राम में निवास भी किया है या नहीं ! कवि ने शहर की या कॉलिज की लड़कियों की ही कल्पना की है। गाँव में औरतों को कलेवा ले जाते देखा ही नहीं। जहाँ मटकी सिर पर रखे कोसों चले जाने की उनको आदत होती है, वहाँ सिर पर रोटी और हाथ में मटकी लेकर क्यों चलने लगीं ?

"पलाशवन" में 'अभाव के भाव' में कई छन्द पठन योग्य हैं :-

पर सबको खाँसी जुकाम भी
कभी कभी हो ही जाते हैं
मन हारी बीमारी के दिन
कब तक रोज़ याद आते हैं

× × × ×

पति मर जाता पत्नी जीती
पत्नी मरती, पति-पति रहता
वृद्ध पिता, विधवा माँ रहती
पुत्र छोड़, सबको चल बसता

'पति-पति' क्या है ? और जिसका वृद्ध पिता है उसकी माँ को 'विधवा' कैसे कहा जाय ? या यही असावधानता है, भाषा एवं भाव व्यक्त करने में 'अलहड़पन' है ? कवि का आशय यह था कि किसी का वृद्ध पिता है; किसी के पिता भी नहीं, केवल विधवा माता है—पुत्र इनको छोड़ कर चल बसता है। परन्तु कवि का भाषा पर किञ्चित् मात्र भी अधिकार दिखाई नहीं पड़ता। भावुकता में कवि भाषा से लापरवाही दिखाता बढ़ता चला जा रहा है! ऐसी उतावली भी किस काम की ? क्या कवि ने इन पंक्तियों पर ध्यान दिया है ?

"सब को तो कविता लिखने के
भाव कभी हो ही जाते हैं
लिख कर असफल हुए कभी क्या ?
कितने यह विचार लाते हैं ?

× × × ×

कोई मरता कविता जीती
छन्द बनाकर, कवि कवि रहता
वृद्ध पुरुष की पत्नी 'विधवा'
कह कर, कवि लहरों में बहता

× × × ×

भावुकता में कवि भाषा से,
छूट गया सो छूट गया।
भाग्य, अरे, भाषा का अब तो,
रूठ गया सो रूठ गया !!'

'पलाशवन' में 'कूर्मांचल' और 'कौसानी' पर भी रचनाएँ हैं जिनमें भाषा-प्रवाह अच्छा है। यथा—

मणि-जटित मुकुट सयुक्तप्रान्त का
ज्योति कान्त वह कूर्मांचल !

'पलाशवन की ये रचनाएँ अच्छी हैं। परन्तु जहाँ 'दो चार बरस, दो चार दिवस' 'रेशमी रूमाल या रेशमी दामन' या 'तिल भर न परस्पर उर-दुराव' की पुरानी आवाज़ सुनाई देती है वहाँ कल्पना क्षीण होती दिखाई देती है। एक स्थान पर लिख दिया है कि :—

है सज्ञा-शून्य व्योम शोभा लख,
मौन मूक नगपति नगेन्द्र !
उसका कैसे गुण गान करे
जो व्यक्ति नाम का हो नरेन्द्र !

यह नगपति हिमालय की प्रशंसा है या प्रोफ़ेसर नगेन्द्र जी की ! कवि को कुछ गंभीर बनने की आवश्यकता प्रतीत होती है। 'नरेन्द्र' और 'नगेन्द्र' में बहुत भेद है। गुणगान करने में कौन-सी रुकावट है ? यदि कोई थी भी, तो रुकावट होते भी, लगभग ४३ (तैंतालीस) छन्द तो लिख ही दिए गए। फिर भी यह लिखना पड़ा :—

अनुभूति इन्द्रियों की सीमित
भाषा की अक्षमताएँ है
वर्णनातीत है पर वह छवि
जिसकी न कहीं समाएँ है !

कवि की भाषा की 'अक्षमताएँ' (?) अवश्य दृष्टिगोचर हो रही हैं। यथा :—

नभ ज्यों योगी का निर्मल चित
है धरा मौन ज्यों विनति भक्ति,
बापू के श्रीमुख से निकला—
"सतकर्म, अहिंसा, अनासक्ति"!

आकाश तो योगी के चित की तरह निर्मल है और 'विनति भक्ति' की तरह पृथ्वी मौन है। और बापू के श्रीमुख से 'सतकर्म, अहिंसा, अनासक्ति' निकला। तुक तो मिल गई परन्तु एक दूसरे का सम्बन्ध नहीं मिल पाया। बात क्या हुई। कवि को गद्य में नोट देना पड़ा कि अनासक्ति-योग के नाम से गीता का भाष्य गांधी जी ने कौसानी में ही किया था। यह भाषा की अक्षमताएँ (?) नहीं हैं; कवि के पद्य की भाषा की अक्षमताएँ अवश्य हैं जिनके कारण, गद्य में नोट देना पड़ा!

इसी तरह यह भी लिखा है कि :—

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण
की धाय बनी यह कौसानी
छिन गई गोद जब जननी की
थी यह कौशिल्या कल्याणी

इसको पढ़ कर ऐसा प्रतीत हुआ कि यह कविता हिन्दी के "राजा लक्ष्मणसिंह जी" के विषय में है। पढ़ा तो यह था कि उन्होंने आगरा में जन्म लिया था। शायद माता के मरने पर वह कौसानी लाए गए हों। इसीलिए यह धाय मानी गई हों!

परन्तु फिर गद्य में नोट है—"आशय श्री सुमित्रानन्दन पन्त से है, कौसानी जिनकी जन्मभूमि है। पन्त जी की माता का देहान्त जन्म के थोड़े घंटों बाद हो गया था।"

ऊपर गद्य में जन्मभूमि का तो ज़िक्र तक नहीं ! इससे तो गद्य में पुस्तक लिखनी अच्छी होती। और कवि की अक्षमताएँ तो फिर भी दिखाई पड़ती हैं जो 'सुमित्रानन्दन' को लक्ष्मण बनाना पड़ा ! शायद प्रोफ़ेसर रामकुमार जी को 'हिन्दी का लवकुश' लिखा जाना ठीक रहेगा !!

× × × ×

भाषा की अक्षमताएँ यहीं तक सीमित हों, यह बात नहीं है। लक्ष्मण को राम बना कर रामायण की प्राचीन कथा को ही पलटने का प्रयास किया गया है। एक दिन की बात है कि कौसानी के एक पंडितजी इन कविताओं पर बड़े मुग्ध थे और बड़े चाव से इनको सुनते जा रहे थे। एक-एक पंक्ति पर 'वाह-वाह, बड़ी अच्छी कविता है' कह-कह कर पं० सोहनलाल जी द्विवेदी के राग में 'बढ़े चलो—बढ़े चलो' मिनट-मिनट पर कहते जाते थे। और जहाँ यह आता था कि

वह कौसानी मिल गई मुझे
वह कौसानी मिल गई मुझे

तो पंडितजी भी राग में राग मिला कहते जाते थे:—

'वा-आसानी मिल गई मुझे
वह लासानी मिल गई मुझे'

आखिर जब सुमित्रानन्दनजी का अकस्मात् परिवर्त्तन दिखाई दिया तो ठिठके, कहने लगे कि "अवश्य भाषा-दोष है, परन्तु कोई हर्ज नहीं, और पढ़ो।"

निदान आगे की पंक्तियाँ पढ़ी गईं:—

हिन्दी का तेजस्वी लक्ष्मण
कौशल्या के आँचल में पल,

कवि की भाषा की 'अक्षमताएँ' (?) अवश्य दृष्टिगोचर हो रही हैं। यथा :—

नभ ज्यों योगी का निर्मल चित
है धरा मौन ज्यों विनति भक्ति,
बापू के श्रीमुख से निकला—
"सतकर्म, अहिंसा, अनासक्ति"!

आकाश तो योगी के चित की तरह निर्मल है और 'विनति भक्ति' की तरह पृथ्वी मौन है। और बापू के श्रीमुख से 'सतकर्म, अहिंसा, अनासक्ति' निकला। तुक तो मिल गई परन्तु एक दूसरे का सम्बन्ध नहीं मिल पाया। बात क्या हुई। कवि को गद्य में नोट देना पड़ा कि अनासक्ति-योग के नाम से गीता का भाष्य गांधी जी ने कौसानी में ही किया था। यह भाषा की अक्षमताएँ (?) नहीं हैं; कवि के पद्य की भाषा की अक्षमताएँ अवश्य हैं जिनके कारण, गद्य में नोट देना पड़ा!

इसी तरह यह भी लिखा है कि :—

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण
की धाय बनी यह कौसानी
छिन गई गोद जब जननी की
थी यह कौशिल्या कल्याणी

इसको पढ़ कर ऐसा प्रतीत हुआ कि यह कविता हिन्दी के "राजा लक्ष्मणसिंह जी" के विषय में है। पढ़ा तो यह था कि उन्होंने आगरा में जन्म लिया था। शायद माता के मरने पर वह कौसानी लाए गए हों। इसीलिए यह धाय मानी गई हों!

परन्तु फिर गद्य में नोट है—"आशय श्री सुमित्रानन्दन पन्त से है, कौसानी जिनकी जन्मभूमि है। पन्त जी की माता का देहान्त जन्म के थोड़े घंटों बाद हो गया था।"

ऊपर गद्य में जन्मभूमि का तो ज़िक्र तक नहीं! इससे तो गद्य में पुस्तक लिखनी अच्छी होती। और कवि की अक्षमताएँ तो फिर भी दिखाई पड़ती हैं जो 'सुमित्रानन्दन' को लक्ष्मण बनाना पड़ा! शायद प्रोफ़ेसर रामकुमार जी को 'हिन्दी का लवकुश' लिखा जाना ठीक रहेगा!!

× × × ×

भाषा की अक्षमताएँ यहीं तक सीमित हों, यह बात नहीं है। लक्ष्मण को राम बना कर रामायण की प्राचीन कथा को ही पलटने का प्रयास किया गया है। एक दिन की बात है कि कौसानी के एक पंडितजी इन कविताओं पर बड़े मुग्ध थे और बड़े चाव से इनको सुनते जा रहे थे। एक-एक पंक्ति पर 'वाह-वाह, बड़ी अच्छी कविता है' कह-कह कर पं० सोहनलाल जी द्विवेदी के राग में 'बढ़े चलो—बढ़े चलो' मिनट-मिनट पर कहते जाते थे। और जहाँ यह आता था कि

वह कौसानी मिल गई मुझे
वह कौसानी मिल गई मुझे

तो पंडितजी भी राग में राग मिला कहते जाते थे:—

'वा-आसानी मिल गई मुझे
वह लासानी मिल गई मुझे'

आखिर जब सुमित्रानन्दनजी का अकस्मात् परिवर्त्तन दिखाई दिया तो ठिठके, कहने लगे कि "अवश्य भाषा-दोष है, परन्तु कोई हर्ज नहीं, और पढ़ो।"

निदान आगे की पंक्तियाँ पढ़ी गईं:—

हिन्दी का तेजस्वी लक्ष्मण
कौशल्या के आँचल में पल,

बन गया राम-सा विनयशील,
विक्रमी, मनस्वी, धीर अचल !

जब मिली चुनौती रूढ़िग्रस्त
शिव-धन्वा पल में तोड़ दिया !
शत परशुराम नित क्रुद्ध हुए
उसने कविता-पथ मोड़ दिया !

कर धनुष-भंग पल्लव-पिनाक रच
कवि ने नव-निर्माण किया
फिर काव्य-सुनीता सीता का
जब वरण किया वनवास लिया !

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण को
बना दिया विक्रमी राम
यह कौशल्या की पुण्य-गोद-सी
है कौसानी पुण्यधाम !

इतना पढ़ना था कि पंडितजी यकायक चिल्लाने लगे:—

"धृष्टता है धृष्टता, सरासर धृष्टता। मिथ्या प्रशंसा ही नहीं है, यह रामायण पर प्रहार है। और है साहित्य का संहार ! 'काव्य' पुल्लिंग है ! 'सुनीता सीता' स्त्रीलिंग है ! काव्य में वर्णित सुनीता या पुनीता सीता ही से तात्पर्य लिया जा सकता है—कविता से नहीं। सीता को लक्ष्मण ने बर लिया ! राम-राम, घोर अधर्म—घोर अधर्म !!

जिस प्रकार क्रौंच पक्षी की हत्या के कारण अनायास बाल्मीकिजी के हृदय से कविता उमड़ पड़ी थी, उसी प्रकार साहित्य-संहार देख कर 'राम राम, राम राम !" कहते हुए पंडितजी के विह्वल हृदय से निम्नलिखित पंक्तियाँ अपने आप उमड़ पड़ीं। पंडितजी कहने लगे:—

"ओ हो कवीन्द्र ! तुम क्या कहते ?
क्या रामायण अब याद नहीं ?
लक्ष्मण को राम बना देते !!
क्या कविता में मर्याद नहीं ?

शिव-धनुष तोड़, लक्ष्मण ने यदि,
सीता को जाकर ब्याहा था !
तो रावण बन कर कौन तुम्हारी
कविता को हर लाया था ?

श्रद्धेय गुप्त जी से पूँछो
क्या लक्ष्मण के उर्म्मिला नहीं ?
'साकेत' मध्य दृष्टान्त प्रेम का
ऐसा अनुपम मिला कहीं

सीता उर्म्मिला सगी बहनें
'मानस' में देखो तुम प्रमाण !
लक्ष्मण की परम पूजनीया
सीता थीं माता के समान !

फिर काव्य पुनीता सीता को
लक्ष्मण हैं कैसे वर लेते ?
भाई नरेन्द्र ! कविता में तुम
क्यों ऐसी गड़बड कर देते ?"

पंडितजी के हृदय के घोर दुःख को देख कर, क्या श्री नरेन्द्रजी थोड़े दिन विश्राम लेने की कृपा करेंगे ? विश्राम के अभाव में भगवान की दी हुई काव्य-प्रतिभा के असमय ही कुंठित हो जाने का भय है।

श्यामनारायण पाण्डेय की हल्दीघाटी

श्रीयुत् पंडित श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दीघाटी' खड़ी बोली में एक प्रबन्ध काव्य है। इसे वीर रस का आदि काव्य भी बताया जाता है। स्वतंत्रता के पुजारी, स्वदेशाभिमानी, रणकुशल एवं स्वार्थ-त्यागी उस महाराणा प्रताप की यह गुण-गाथा है जिसके अदम्य उत्साह एवं दृढ़ साहस के सम्मुख मोगल शाहंशाह अकबर की महत्वाकांक्षा भी संकुचित ही रह गई थी। जिस प्रकार यूनान में 'थर्मोपिली' नामक तंग घाटी और रण भूमि की प्रसिद्धि, वीर-गाथा में, शताब्दियों से चली आती है वैसी ही प्रसिद्धि भारत-वर्ष में हल्दीघाटी की है।

पंडित श्यामनारायणजी का 'हल्दीघाटी' काव्य एक स्तुत्य एवं प्रशंसनीय प्रयास है। स्थान-स्थान पर इस काव्य की भाषा भी अत्यन्त रोचक, ओजस्वी एवं सजीव हो गई है। राणा प्रताप के घोड़े 'चेतक' का रणक्षेत्र में युद्ध-कौशल दिखलाते हुए कवि लिखता है:—

रण बीच चौकड़ी भर-भर कर, चेतक बन गया निराला था
राणा प्रताप के घोड़े से, पड़ गया हवा को पाला था
जो तनिक हवा से बाग हिली, लेकर सवार उड़ जाता था
राणा की पुतली फिरी नहीं, तब तक चेतक मुड़ जाता था

राणा की तलवार की प्रशंसा भी ध्यान देने योग्य है—

कल-कल बहती थी रण गंगा, अरिदल को डूब नहाने को
तलवार वीर की नाव बनी, चटपट उस पार लगाने को
लहराती थी सिर काट-काट, बल खाती थी भू पाट-पाट
बिखराती अवयव बाट बाट, तनती थी लोहू चाट-चाट

हल्दीघाटी में जब खेमों से राणा प्रताप की राजपूत-सेना निकलती है तब भाषा-प्रवाह और भी अच्छा हो गया है। कवि लिखता है—

जय रुद्र बोलते रुद्र सदृश, खेमों से निकले राजपूत
झट झण्डे के नीचे आकर, जय प्रलयङ्कर बोले सपूत
अपने पैने हथियार लिए, पैनी-पैनी तलवार लिए
आए खर कुन्त कटार लिए जननी सेवा का भार लिए
रणयात्रा करते ही बोले, राणा की जय, राणा की जय
मेवाड़ सिपाही बोल उठे, गतबार महाराणा की जय,
हल्दीघाटी के रण की जय, राणा प्रताप के प्रण की जय
जय-जय भारत माता की जय, मेवाड़-देश कण-कण की जय
हर एकलिङ्ग, हर एकलिङ्ग, बोला हर-हर अम्बर अनन्त
हिल गया अचल, भर गया तुरत, हर-हर निनाद से दिग दिगंत
घनघोर घटा के बीच चमक, तड़-तड़ नभ पर तड़िता तड़की
झन-झन असि की झनकार इधर, कायर दल की छाती धड़की

भाषा इतनी ओजस्वी एवं सजीव और भाषा-प्रवाह इतना अच्छा हो गया है कि रह-रह कर पढ़ने को जी चाहता है। परन्तु अन्तिम छन्द पढ़ते ही एक सन्देह पैदा हो जाता है। 'यह घनघोर घटा' क्या है, और कहाँ से आ गई? यह बिजली भी कहाँ से चमक उठी? क्या कविवर ने युद्ध में बरसात भी दिखलाई है? या बरसात में ही हल्दीघाटी का युद्ध दिखला दिया है?

जब एकादश सर्ग को फिर प्रारंभ से पढ़ा तो समझ में आया कि कवि ने हल्दीघाटी का युद्ध सावन मास में ही दिखाया है—लिखा है—

सावन का हरित प्रभाव रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा
फहरा कर पंख थिरकते थे, मन हरती थी बन-मोर-छटा
पड़ रही फुही झींसी झिन-झिन, पर्वत की हरी बनाली पर
'पी कहाँ' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर

वह घटा चाहती थी जल से, सरिता सागर-निर्झर भरना
यह घटा चाहती शोणित से, पर्वत की कण-कण तर करना
नभ पर चम-चम चपला चमकी, चम-चम चमकी तलवार इधर
भैरव अमन्द घन-नाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर
यह कड़-कड़-कड़-कड़ कड़क उठी, यह भीमनाद से तड़क उठी
भीषण संगर की आग प्रबल, बैरी सेना में भड़क उठी

कविता तो रोचक है, परन्तु आखिर सावन मास में युद्ध कैसे हुआ होगा ? मुग़ल सेनानायक क्या इतना बुद्धिहीन था कि अरावली पहाड़ी की घाटियों में बरसात में लड़ने को पहुँचा हो ? लड़ाई, वर्षा में, हो कैस सकती थी ? क्या तीर, तरकस, तलवार, भाले, बर्छी, तोप, बारूद, घोड़े, हाथी भींग न गए होंगे ? क्या कवि ने इस ओर दृष्टि नहीं दौड़ाई ?

शायद कविवर सेनानायक के पास पहुँचे हों और निवेदन किया हो—"अजी सेनानायक, तुम्हें तो लड़ाई रोज़ ही लड़नी पड़ती हैं ! और लड़ाई मन चाहे तब लड़ते रहना; हल्दीघाटी की तो सावन में ही लड़ लो ! हमारी कविता अच्छी हो जायगी। ऊपर की घटा और नीचे की घटा का मुक़ाबिला हो जायगा ! चम-चम चपला आकाश में और चम-चम तलवार पृथ्वीतल में; कड़-कड़ बिजली आकाश में और कड़-कड़ तोप नीचे !!—कितना रोचक वर्णन रहेगा ? अजी सेनानायक जी, सावन में ही लड़ लो; पानी ज्यादा बरसे तो छाता ले लेना। देखो तो कविता में मज़ा आ जायगा।"

शायद मुग़ल सेनानायक ने कविवर की बातों में आकर हल्दीघाटी की लड़ाई श्रावण के माह में ही लड़ी हो और कविवर ने असंभव को संभव कर दिया हो !

× × ×

प्रसिद्ध इतिहासकार बदाउनी इस युद्ध में स्वयं सम्मिलित हुआ था। उसने "मुन्तख़बुत्तवारीख" में अजमेर से कुँवर मानसिंह की

रवानगी ५००० सवारों के साथ हिजरी सन् ९८४, ता० २ मुहर्रम (वि० सं० १६३३, बैसाख सुदी ३—ई० सन् १५७६, ता० २ अप्रैल) को बयान की है।

हल्दीघाटी से कुछ ही दूर खामनोर के निकट दोनों सेनाओं का भीषण युद्ध हिजरी सन् ९८४ रविउल अव्वल के शुरू (वि० सं० १६३३ द्वितीय ज्येष्ठ सुदी—जून १५७६ ई०) में होना बताया है। यही समय 'अकबरनामा', 'इक़बालनामा', 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' 'वीर विनोद' और रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा के प्रसिद्ध 'राजपूताने के इतिहास' में भी दिया गया है।

युद्ध के बाद शाही सेना गोगूंदे में पड़ी रही और राणा प्रताप की लूट के कारण अन्न तक न ला सकी। बरसात के कारण ४ मास शाही सेना की बुरी हालत रही थी। बादशाह को मानसिंह पर शक हुआ कि राजपूत होने के कारण प्रतापसिंह की तरफ़ है। मानसिंह एवं आसफ़ ख़ाँ की तनज्जुली हुई और उनकी ड्योढ़ी बन्द कर दी गई।

आश्विन सुदी ७ को बादशाह स्वयं अजमेर आए और कार्तिक बदी ६ को गोगूंदा पहुँचे। कोई युद्ध श्रावण में न तो हुआ और न हो सकता था!

\+ \+ \+

कल्पना के लिए महाकाव्य में पर्याप्त स्थान हुआ करता है; परन्तु ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध, युद्ध-विद्या के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध, असंभव को संभव बनाना कवि का कर्तव्य नहीं है।

'हल्दीघाटी' के कवि ने इस ओर भी किंचित् ध्यान नहीं दिया कि जिन दृश्यों का कविता में वर्णन किया है वे वातावरण के अनुकूल भी हैं या नहीं। सारे दृश्य मनोरम हैं—कविता भी अच्छी है, परन्तु कविवर वर्णन करते समय यह भूल जाते हैं कि अरावली पहाड़ियों के ऊपर उन दृश्यों का वर्णन करना उचित

नहीं जो गंगा-यमुना के मध्य के समतल में पाए जाते हैं; या जो पहाड़ के नीचे मैदानों के वर्णन में ही उपयुक्त हो सकते हैं। कवि एक स्थान पर लिखते हैं:—

थी आधी रात अँधेरी, तम की घनता थी छाई
कमलों की आँखों से भी. कुछ देता था न दिखाई
पर्वत पर घोर विजन मे, नीरवता का शासन था
गिरि अरावली सोया था, सोया तमसावृत बन था

सोचने की बात है, पर्वत पर कमल कहाँ से आए होंगे। क्या वहाँ पक्के तालाब खुदे थे? या झरने में ही कमल खिलते थे?

यव की कोमल बालों पर, मटरों की मृदु फलियों पर
नभ के आँसू बिखरे थे, तीसी की नवकलियों पर
घन हरित चने के पौदे, जिनमें कुछ लहुरे जेठे
भिग गए ओस के जल मे, सरसों के पीत मुरैठे

जौ, मटर, तीसी, चने, सरसों की अरावली पहाड़ी पर शायद खेती होती होगी !!
और भी—

उड़ उड़ गुलाब पर बैठ बैठ, करते थे मधु का पान मधुप
गुन गुन गुन गुन गुन कर करते, राणा के यश का गान मधुप
केसर के निर्झर फूल लाल, फूले पलाश के फूल लाल
तुम भी बैरी सिर काट काट, कर दो शोणित से धूल लाल

पहाड़ी के ऊपर गुलाब, पलाश, केसर और धूल सभी बताए गए हैं !!

सन-सन-सन-सन सन चला पवन, मुरझा मुरझा कर गिरे फूल
चढ़ चला तपन, चढ़ चला ताप, धू धू करती चल पड़ी धूल

अरावली पहाड़ शायद रेगिस्तान होगा! कितनी धूल उड़ी होगी? और ताप से नहीं बल्कि ताप के पहिले ही पवन के सन सन चल जाने से ही फूल मुरझा कर गिर पड़े। काव्य-कौशल देखने योग्य है! प्रकृति पर्यवेक्षण का उत्कृष्ट उदाहरण है!

सारी ऋतुओं का अरावली पहाड़ी पर वर्णन किया गया है जो स्थान-स्थान पर असंगत एवं अस्वाभाविक हो गया है। वहाँ का शीत-कोप भी देखने योग्य है। कहते हैं:—

अँखों के अन्दर पुतली, पुतली में तिल की रेखा
उसने भी उस रजनी में, केवल तारों को देखा
वे नभ पर काँप रहे थे, था शीत-कोप कँगलों में
सूरज मयंक सोए थे, अपने अपने बँगलों में

सूरज और चन्द्रमा दोनों एक समय ही सो रहे थे। उनके बँगले शायद नल, बिजली, टेलीफ़ोन सभी सामान से सुसज्जित रहे होंगे! उनका भी वर्णन होना चाहिए था। अच्छा तो यह भी जोड़ देना चाहिए। रोचक ही रहेगा। पढ़िए—

सूरज मयंक के बँगले, कैसे थे मैं क्या जानूँ?
कविवर से जाकर पूँछा, उनकी बातें मैं मानूँ!
बँगलों के अन्दर बिजली, नल का पानी बतलाया
कर "ट्रंक कॉल" से बातें, कविता से जी बहलाया!
सूरज मयंक मोहित थे, कविवर की दिव्य दृष्टि पर!
'हल्दीघाटी' में वर्णित—बँगलों की नई सृष्टि पर!!
थे शीत-कोप से व्याकुल, बँगले भी थे पर्वत पर
उनका जीवन अवलंबित, कवि के ठंडे शरबत पर!
भाषा के अन्दर कविवर, उर में वीरों की रेखा,
उसने बँगलों में सोए, सूरज मयंक को देखा!!

× × ×

श्रावण का युद्ध, अरावली पर्वत पर मैदानों के दृश्य एवं शीत-कोप में सूर्य-चन्द्र का बँगलों में सोना—एक-से-एक आश्चर्यमय वर्णन हैं! एक स्थान पर शिकार का भी रोचक दृश्य दिखाया गया है। लिखते हैं:—

हय के हिन हिन हुंकारों से, भीषण धनु टंकारों से
कोलाहल मच गया भयंकर, मेवाड़ी ललकारों से

शायद घोड़े के हिनहिनाने को "हिन हिन हुङ्कार" कहा जाता है। धनु टङ्कार की क्या ज़रूरत थी? शेर तो गुफा में बताया गया है। जैसे खाली बन्दूक चलाई जाती है शायद वैसे ही नकली धनुष की टंकार भी की जाती हो। मेवाड़ी ललकार विशेषज्ञों की होती होगी!

एक केसरी सोता था वन के, गिरि गह्वर के अन्दर
रोओं की दुर्गन्धि हवा से, फैल रही थी इधर उधर
शिर के केसर हिल उठते, जब हवा झुरुकती थी झुरमुर
फैली थी टाँगें अवनी पर, नाकें बजती थी घुर घुर

हवा झुरमुर झुरुकती थी! शेर की टाँगें आसमान के बजाय अवनी पर ही फैली हुई थीं। कितना रोचक वर्णन है!

सो न सका उठ गया क्रोध से, अँगड़ा कर तन झाड़ दिया
हिलस उठा गिरि गह्वर जब, नीचे मुख कर चिंघाड़ दिया

शेर नीचे मुख कर चिंघाड़ा करता है और हाथी शायद ऊपर को मुख करके दहाड़ा करता है!

शिला शिला फट उठी, हिले तरु टूट-टूट चट्टान गिरे
सिंहनाद सुन कर भय से जन, चित्त-पट्ट-उत्तान गिरे

वृक्ष तो केवल हिलकर ही रह गए किन्तु शिला फट गईं और

चट्टान टूट-टूट कर गिर गए ! वृक्ष अच्छे रहे और अब तक शिला और चट्टान तो एक भी नहीं रहे होंगे ! मनुष्य चित्त पट्ट उत्तान गिर गए ! शायद पहलवानों का दङ्गल हुआ होगा !!

अब कुंवर मानसिंह के लिए जो भोजन लाया गया था उसका भी सूक्ष्म वर्णन देखने योग्य है। कवि लिखते हैं:—

देखे मधु पदार्थ पन्ने की, मृदु प्याली-प्याली में
चावल के सामान मनोहर, सोने की थाली में
घी से सनी-सजी रोटी थी, रतनों के बरतन में
शाक खीर नमकीन मधुर, चटनी चमचम कचन में

पन्ना तो कठोर रत्न है। उसकी प्याली मृदु कैसे होगी ? रोटी घी से सनी थी मगर सजी किससे थी ? शायद मोती मूँगों से सजी होगी। तभी तो थाली में नहीं समा सकी, रतनों के बर्त्तन में—थाली से दूर—रखी गई ! अब थाली में तो चावल के सामान थे—बर्त्तन में रोटी थी। और शाक, खीर, नमकीन, मधुर, चटनी सब एक जगह "चमचम कंचन" में सब मिलाकर 'गड्ड बड्ड' बनी रखी हुईं थीं !

मोती झालर से रक्षित, रसदार लाल थाली में
एक ओर मीठे फल थे, मणि-तारों की डाली में
तरह-तरह के खाद्य कलित, चाँदी के नए कटोरे
भरे भराये घी से देखे, नीलम के नव खोरे

डाली भी सिर के ऊपर लटक रही होगी। थाली भी कई रखी गई होंगी। पानी का गिलास नहीं बताया गया। शायद उन दिनों पानी नहीं पिया जाता होगा। घी पीने का रिवाज होगा !

अरावली के नीचे जुगनू की महिमा भी देखिए !

गिरि पर थी बिछी रजत चादर, गह्वर के भीतर तम विलास
कुछ कुछ करता था तिमिर दूर, जुग जुग जुगनू का लघु प्रकाश

'जुग-जुग जुगनू' में शब्दानुप्रास की बहार और 'प्रकाश' का "लघु" एवं "दीर्घ" वर्गीकरण कितना उपयुक्त है! "बिज-बिज-बिजली का दीर्घ प्रकाश" भी कोई नवीन कवि अब लिख सकेंगे!

राणा प्रताप अपने सरदारों के सम्मुख भाषण देते हैं। उस भाषण के दो छन्द देखने योग्य हैं:—

नश्वर तन को डट जाने दो, अवयव अवयव छट जाने दो
परवाह नहीं करते हो तो, अपने को भी कट जाने दो

नश्वर तन को भागने मत दो, डट जाने दो। अवयव-अवयव छटवा कर मोटा शरीर सुन्दर सुडौल कर लो! फुरतीला छरहरा बदन हो जायगा।

अब उड़ जाओ तुम पाँखों में, तुम एक रहो अब लाखों में
वीरो, हलचल सी मचा-मचा तलवार घुसा दो आँखों में

पाँखों में उड़ जाओ और तलवार आँखों में घुसा दो का उपदेश लाखों में एक ही है! तलवार कोई भाला थोड़े ही है। मगर कवि की सूझ बड़ी है—शायद भाला ही समझा!! धर्म-युद्ध में शायद सिर बचाया जाता है और आँखें फोड़ी जाती हैं!! इसी-लिए राणा प्रताप का यही उपदेश रहा हो!!

अकबर के मीना बाज़ार का भी वर्णन है। उसके सम्बन्ध में लिखते हैं:—

करता था वह किसी जाति की, कान्त कामिनी से ठन-गन
कामातुर वह कर लेता था, किसी सुन्दरी का चुम्बन

'ठन-गन' कितना अनुपयुक्त प्रतीत होता है!! पंडे पुरोहित अपने यजमान से अधिक धन के लिए जो हठ करते हैं मचलते हैं; उसी को 'ठनगन' कहते हैं। कवि का आशय तो देखिए कहते हैं कि इतना भारी बादशाह! मगर कम्बख़्त जाति-पाँति का ख्याल ही

नहीं रखता था ! भंगिन चमारिन किसी भी जाति की कान्त कामिनी से 'ठन-गन' कर लेता था !! तभी तो राणा प्रताप ने छक्के छुड़ा दिए थे !!

तभी शायद अकबर भी दिन-रात राणा प्रताप के विषय में ही सोचा करता था कि या ख़ुदा यह किस क़िस्म का आदमी होगा ? कवि की भाषा में, अकबर का सोच-विचार तो देखिए ! लिखते हैं—अकबर सोचता था:—

कैसा गोरा काला रंग, जिससे सूरज शशि बदरंग
जिससे वीर सिपाही तंग, जिससे मुग़ल राज है दंग
कैसा भाला कैसी म्यान, कितना नत कितना उत्तान
पतन नहीं दिन-दिन उत्थान, कितना आज़ादी का ध्यान

समझ में आ सके तो समझिए इस विशृंखल भाषा को ! न समझ में आवे तो निम्नलिखित तुकन्बदी को भी पढ़ लीजिएगा—

गोरा-मिश्रित-काला रंग, देख-देख कर भाषा दंग
सूरज शशि दोनों बदरंग, कवि की होली के हुड़दंग
कैसी कविता, कैसा गान ? भाला के कब होती म्यान ?
भाषा पर मत रखना ध्यान, होगा फिर दिन-दिन उत्थान !!

(२)

गुण-गाथा के लिए भी एक ऊँचे स्तर की भाषा एवं साहित्य की आवश्यकता हुआ करती है। आज के कवि और पुराने भाट एवं चारण की कविता में अवश्य भेद होना चाहिए। अंधाधुन्ध एक की बुराई और दूसरे की प्रशंसा करना कवि-कर्त्तव्य नहीं है। इतिहास का आधार छोड़ कर किंवदन्तियों के आधार पर कपोल-कल्पित किला खड़ा कर देना; उलझे इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने के स्थान पर और भी उलझा देना कवि-धर्म नहीं है।

इतिवृत्त वर्णन करते हुए भी नवीन कल्पना एवं मौलिकता का

परिचय दिया जा सकता है। खेद है, हल्दीघाटी के कवि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्हीं पुरानी निराधार बातों के वर्णन करने में सर्ग-के-सर्ग लिखे गए हैं जिन्हें इतिहास झूठा बता चुका है।

शक्तिसिंह एवं राणा प्रताप का शिकार खेलना, शिकार में किसी ब्राह्मण की हत्या होना, शक्तिसिंह एवं प्रताप का झगड़ा होना और यह झगड़ा हल्दीघाटी के युद्ध का एक कारण बन जाना—ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध है। राणा प्रताप के पिता राजा उदयसिंह के काल में ही शक्तिसिंह अकबरी दरबार में पहुँच चुके थे। उस समय भी, जब कि उदयपुर पर हमला होने वाला था, शक्तिसिंह ने ही अपने पिता को इस हमले की बहुत पहले सूचना दे दी थी।

युद्ध की नींव राणा उदयसिंह के ही काल में पड़ चुकी थी। चित्तौड़ एवं रणथम्भोर जा चुके थे। राणा मुग़ल सेना के भय से उदयपुर पहुँच गए थे। राणा प्रताप के काल में हल्दीघाटी का युद्ध उसी प्राचीन स्वतंत्रता के युद्ध का सिलसिला था जो राणा उदयसिंह के काल में प्रारम्भ हो चुका था।

राणा उदयसिंह की विवेक-शून्य नीति के कारण राणा प्रताप के विरुद्ध उनके भाई-बन्धुओं का एक दल भी अकबर से मिल चुका था। राणा उदयसिंह ने मृत्यु के पूर्व अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रताप को उत्तराधिकारी न बना कर मेवाड़ का सिंहासन जगमल को देने का एलान कर दिया था। लेकिन उदयसिंह की मृत्यु के उपरान्त सर्व-सम्मति से जगमल को हटा कर राणा प्रताप का कुम्भलगढ़ में राज्याभिषेक कर दिया गया।

अकबर ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और असंतुष्ट एवं क्रोध में भरे हुए जगमल को अपनी तरफ़ करके जहाजपुर का परगना उसे जागीर में दे दिया। सिरोही रियासत के विरुद्ध भी अकबर ने जगमल को सहायता दी थी। हल्दीघाटी के युद्ध के सात वर्ष बाद जगमल एक युद्ध में काम आए थे।

इस प्रकार भाइयों में जगमल, शक्तिसिंह, सगर इत्यादि का दल प्रारंभ से ही राणा प्रताप के विरुद्ध अकबर से मिल चुका था। अगर राजपूताने में भाई-भाई का इस प्रकार वैमनस्य न हुआ होता तो राजपूताने का इतिहास कुछ दूसरा ही हुआ होता। शूरवीरता, अदम्य उत्साह एवं अपार साहस के साथ-साथ क्रोध, द्वेष, अहम्मन्यता एवं अत्यन्त संकीर्ण विचार भी राजपूतों की पैतृक सम्पत्ति रहे हैं।

× × ×

कवि ने इतिहास की समूची पृष्ठ भूमि को अलग रख हल्दीघाटी युद्ध के तीन कारण बताए हैं—(१) प्रताप और शक्तिसिंह का द्वेष, (२) अकबर का दीन इलाही और (३) राजा मानसिंह का अपमान।

शिकार में प्रताप और शक्तिसिंह का वाद-विवाद दिखाकर कवि ने लिखा है:—

शक्तिसिंह पहुँचा, अकबर भी घाकर मिला कलेजे से
लगा छेदने राणा का उर कूटनीति के नेजे से
गया बन्धु पर गया न गौरव अपनी कुल-परिपाटी का
यह विरोध भी कारण है भीषण रण हल्दीघाटी का

जैसा हमने ऊपर लिखा है, कवि का यह कथन निराधार है। 'दीन इलाही' का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है:—

हिन्दू-जनता ने अभिमान, छोड़ा रामायण का गान
दीन इलाही पर कुर्बान, मुसलमान से अलग कुरान
तनिक न ब्राह्मण कुल उत्थान, रही न क्षत्रियपन की आन
गया वैश्य कुल का सम्मान, शूद्र जाति का नाम निशान

× × ×

राणा प्रताप से अकबर से इस कारण बैर विरोध बढ़ा
करते छल छद्म परस्पर थे दिन-दिन दोनों का क्रोध बढ़ा

कूट नीति सुनकर अकबर की राणा जो गिनगिना उठा
रण करने के लिए शत्रु से चेटक भी हिनहिना उठा

'गिनगिना' और 'हिनहिना' की तुक देखने योग्य हैं। चेटक भी दीन इलाही का दुश्मन बन बैठा था।

मानसिंह के अपमान पर लिखा है:—

राणा द्वारा मानसिंह का यह जो मान हरण था
हल्दीघाटी के होने का यही मुख्य कारण था।

डूंगरपुर विजय करके, राणा प्रताप को समझा कर, बादशाही सेवा स्वीकार कराने के विचार से वि० सं० १६३० आषाढ़ (जून, १५७३ ई०) में मानसिंह उदयपुर पहुँचे थे। उनका प्रयत्न निष्फल हुआ और वहीं उनका अपमान भी हुआ। वहाँ से मानसिंह दिल्ली चले गए। इसके तीन साल बाद द्वितीय ज्येष्ठ सुदी सं० १६३३ (जून, १५७६ ई०) में हल्दीघाटी का युद्ध हुआ। तीन वर्ष तक भी यदि अधीनता स्वीकर कर ली जाती तो युद्ध की नौबत ही न आती। वास्तव में यह युद्ध स्वतंत्रता का युद्ध था। इसका एक मात्र कारण यही था कि प्रताप स्वतंत्रता खोना नहीं चाहते थे और अकबर की आकांक्षा सार्वभौम आधिपत्य की थी।

इस प्रकार न तो इस युद्ध का सम्बन्ध दीन इलाही से था और न वास्तव में राजा मानसिंह के अपमान के कारण ही युद्ध हुआ था। यदि इधर-उधर की बातें छोड़कर इस युद्ध को एक मात्र स्वतंत्रता के युद्ध के रूप में—जो वास्तव में यह था—कवि वर्णन करता तो यही प्रबन्ध-काव्य न जाने कितना अधिक सजीव, कितना अधिक ओजस्वी, कितना अधिक रोचक एवं कितने अधिक ऊँचे स्तर का साहित्यिक काव्य बन गया होता।

× × ×

राणा प्रताप धार्मिक, पापद्वेषी, पवित्र, स्वार्थ-त्यागी, शूर वीर, साहसी एवं स्वतंत्रता-प्रेमी अवश्य थे। परन्तु यह कहना सही नहीं

कि उनकी उपस्थिति में राजा मानसिंह कलंक-पंकिल की कुत्सित प्रतिमूर्त्ति प्रतीत होते थे। यदि जयपुर घराने से कन्या अकबर को दी गई तो वह मानसिंह के पिता का अपराध हो सकता है। उनके जीवित रहते भला मानसिंह के सिर पर दोष कैसे रखा जा सकता है ?

जो भी हो, उनका पक्ष निरा खोखला नहीं है। कहा जाता है कि जब हिन्दू और मुसलमानों के भेदभाव मिटाने पर बादशाह ने ज़ोर दिया और यह प्रस्ताव किया कि मुग़लों और राजपूतों में आपस में कन्या लेन-देन की रीति-रस्म शुरू होनी चाहिए तो राजपूताने में एक सनसनी फैल गई। एक दल बादशाह के मत को उचित बताने वालों का बन गया और दूसरा दल शुद्ध रक्त के बदस्तूर क़ायम रखने के पक्ष में खड़ा हो गया।

यह कोई नई बात नहीं थी। इतिहास में 'राष्ट्र' और 'धर्म' अथवा 'राष्ट्र' और 'रक्त' के ऐसे झगड़े सदा से होते चले आए हैं। कहा जाता है कि राजपूताने के इन दोनों दलों की एक गुप्त सभा मेवाड़ नरेश राजा उदयसिंह की अध्यक्षता में की गई और बादशाह का प्रत्यक्ष विरोध न करके नीति से चलने की राह निकाली गई। सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि मुग़लों की कन्याएँ नहीं ली जानी चाहिएँ। इस प्रकार शुद्ध रक्त की रक्षा सदा होती रहेगी।

यह भी तय हुआ कि बादशाह की जिद्द पूरी करने के लिए कुछ राजपूत नरेशों की कन्याएँ दे दी जानी चाहिए। कन्याएँ वापिस न बुलाई जावें और यदि वापिस आवें भी तो उनके लिए अलग महल में पृथक् ठहरने का प्रबन्ध कर लिया जाया करे। यह भी तय हुआ कि जो नरेश अपनी कन्याएँ इस प्रकार दें उन्हें नीची दृष्टि से नहीं देखा जाएगा।

जिन नरेशों ने अपनी कन्याएँ दी थीं इन सब निर्णयों के हो जाने के बाद दी थीं। इन्हीं सब बातों की ओर संकेत करते हुए

राजा मानसिंह ने राणा प्रताप से कहा था कि जो निर्णय तुम्हारे पिता की अध्यक्षता में हुआ और उसके अनुसार यदि किसी ने कोई कार्य किया तो उसको नीच बताना न्यायोचित नहीं है।

हमें पूर्ण आशा थी कि इस गुप्त सभा एवं उसके निर्णय पर पूज्यपाद राय बहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा अपने प्रसिद्ध "राजपूताने के इतिहास" में पर्याप्त प्रकाश डालेंगे। लेकिन यह देखकर अत्यन्त निराशा हुई कि उन्होंने अपने इतिहास में इसका ज़िकर करना उचित नहीं समझा। स्वनामधन्य महामहोपाध्याय कविराज श्री श्यामलदासजी ने अनवरत परिश्रम के अनन्तर हिन्दी भाषा में प्रथम-प्रथम विशालकाय भारतीय इतिहास निष्पक्ष होकर लिखा था। इस पर मेवाड़ रियासत के द्वारा एक लाख रुपया व्यय हुआ था। सारे भारतवर्ष से प्रमाण इकट्ठे किए गए थे। ग्रन्थ कई वर्षों में लिखा गया। ग्रन्थ मुद्रित भी हुआ। परन्तु कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह प्रकाशित नहीं हो पाया। रायबहादुर ओझाजी ने अपने ग्रन्थ में इसी "वीर-विनोद" से स्थान-स्थान पर अंश उद्धृत किए हैं। ग्रन्थ जब छप रहा था तब प्रेस की असावधानी से दो-एक प्रतियाँ बाहर निकल गई थीं। जहाँ तक हमें स्मरण है, इस गुप्त सभा एवं उसके निर्णय पर 'वीर-विनोद' में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और प्रमाण भी दिए गए हैं। हिन्दी भाषा का दुर्भाग्य है कि अब तक 'वीर-विनोद' अप्रकाशित ही पड़ा है।

× × ×

हमारा तात्पर्य यही है कि राजा मान का पक्ष भी प्रबल ही था। वह भी शूर वीर थे। लगभग सारे इतिहासकारों ने उनकी शूरवीरता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण वह राणा प्रताप के साथ नहीं हो सके थे। उनके रण-कौशल एवं उच्च सेना-नायकत्व में संदेह नहीं किया जा सकता। 'हल्दीघाटी' में अकबर के सम्मुख राजा मानसिंह को बच्चों की

तरह रुलाया गया है, यह अवश्य खेद-जनक है। राजा मान के गुणों की सम्यक् प्रशंसा के अनन्तर भी राजा प्रताप को ऊँचा दिखाया जा सकता था!

प्रसिद्ध मुग़ल सेनानायक, राजपूतों में अग्रगण्यराजा मानसिंह, अकबर के सम्मुख, क्या इस प्रकार सिसक सिसककर रोया होगा, जैसा 'हल्दीघाटी' में कविवर ने बताया है? कवि लिखते हैं:—

दुख के उठे विषम उदगार, सोच-सोच अपना अपकार
लगा सिसकने मान अपार थर-थर काँप उठा दरबार
घोर अवज्ञा का कर ध्यान बोला सिसक सिसककर मान
"तेरे जीते जी सुलतान ऐसा हो मेरा अपमान!"
सब ने कहा, "अरे अपमान! मानसिंह तेरा अपमान!"
"हाँ-हाँ मेरा ही अपमान, सरदारो! मेरा अपमान"
कह कर रोने लगा अपार विकल हो रहा था दरबार
रोते ही बोला "सरकार, असहनीय मेरा अपकार"

न प्रसंगानुकूल भाषा ही है और न चरित्र-निरूपण। बच्चों की उखड़ी-पखड़ी भाषा में राजा मान का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार राणा प्रताप के मंत्री भामाशाह का वर्णन भी ध्यान देने योग्य है। लिखते हैं—

वह निर्बल वृद्ध तपस्वी लग गया हाँफने कह कर
गिर पड़ी लार अवनी पर उसके आनन से बहकर
वह कह न सका कुछ आगे सब भूल गया आने पर
कटि जानु थाम कर बैठा वह भूपर, थक जाने पर!!

ऐसा वर्णन है मानो उत्तर प्रदेश का कोई अत्यन्त वृद्ध, असहाय, दुखी एवं शोषित किसान अपने जमींदार के आगे दुःख रोने आया हो! कवि राजपूताने के उन वृद्ध वीरों की कल्पना तक नहीं कर सका है जो बिना थके कोसों की यात्रा अब भी किया करते हैं।

कर्नल टाड ने नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ राजपूताने में प्रताप के विषय में सुनीं और उनका प्रचार भी कर दिया। उन किंवदन्तियों में एक यह भी थी कि राणा प्रताप के पास रुपया नहीं रहा था। कभी-कभी राजघराने के लोग भूखों भी रहते थे। एक बार प्रताप की भूखी लड़की की आधी रोटी जंगली बिल्ली छीन ले गई और उस समय प्रताप का धैर्य विचलित हो गया। मंत्री भामाशाह ने जब अतुल संपत्ति प्रताप को दी तब कहीं जाकर सेना इकट्ठी हो सकी। 'हल्दीघाटी' का एक बड़ा सर्ग इस पर ही लिखा गया है।

राय बहादुर ओझा जी ने इस घटना के सम्बन्ध में लिखा है:—यह संपूर्ण कथन अतिशयोक्तिपूर्ण कपोल कल्पना मात्र है। महाराणा को कभी कोई ऐसी आपत्ति सहन नहीं करनी पड़ी। उत्तर में कुंभलगढ़ से लेकर दक्षिण में ऋषभ देव से परे ८० मील लम्बा और पूर्व में देबारी से लगा कर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक क़रीब ७० मील चौड़ा पहाड़ी देश महाराणा के अधिकार में हमेशा ही रहा। गोड़बाड़, सिरोही, ईडर, और मालवे के मार्ग खुले ही थे। पर्वतों को बन्दरों की तरह लांघने में कुशल हजारों स्वामिभक्त भील लोग हमेशा प्रताप के पास रहते थे। शाही सेना से केवल मेवाड़ का उत्तर पूर्वी प्रदेश ही घिरा हुआ था। बाक़ी तो प्रताप के पास ही था। अवश्य राजमहलों-जैसा रहने का प्रबन्ध नहीं था, परन्तु ऐसा कष्ट नहीं था जैसा कि प्रचलित कर दिया है। साथ-साथ राणा सांगा एवं राणा कुम्भा की संचित अतुल संपत्ति प्रताप के पास ज्यों-की-त्यों बनी थी। शाह उस संपत्ति को एक किले से उठा कर दूसरे में रखने, उसकी रक्षा करने एवं आवश्यकतानुसार राणा प्रताप को देने के ही उत्तरदायी थे। यह कार्य उन्होंने बड़ी अच्छी तरह संपादित किया था। इसके अतिरिक्त कोई विशेष सम्पत्ति उन्होंने राणा प्रताप को न तो दी थी और न राणा को उसकी आवश्यकता ही थी।

इस प्रकार प्रथम चार सर्ग के अतिरिक्त दशमसर्ग, पंचदश एवं षोडश सर्ग अनैतिहासिक बातों से भरे हुए हैं। चतुर्दश सर्ग तो वीभत्स रस का परिपाक है जिसमें से कोई अंश उद्धृत करना तक हम उचित नहीं समझते। उसको पढ़ने ही में न जाने कितनी घृणा होती है।

अगर अनैतिहासिक सर्गों की भाषा ही अच्छी होती तो भी कुछ हानि-पूर्ति समझी जाती। परन्तु जैसा हमने ऊपर लिखा है, भाषा शैथिल्य यत्र-तत्र बुरी तरह दिखाई पड़ता है!

युद्ध वर्णन अवश्य अच्छा है, परन्तु आवेग में आकर स्थान-स्थान पर उसमें भी असावधानी दिखाई गई है। एक स्थान पर यही लिखा है:—

सुन कर सैनिक तननना उठे हाथी-हय-दल पनपना उठे
हथियारों से भिड़ जाने को हथियार सभी झनझना उठे
गनगना उठे सातंक लोक तलवार म्यान से कढ़ते ही
शूरों के रोएँ फड़क उठे रणयंत्र वीर के पढ़ते ही

तननना, पनपना, गनगना पढ़ कर साहित्यिकों के रोएँ अवश्य फड़क उठेंगे! निम्नलिखित तुकबन्दी भी पढ़ लीजिए—

फनफना उठे कवि वर्णन में, सुनने वाले सनसना उठे
भावों के आयुध कवि के दिल में; ज़ोरों से झनझना उठे
मनमना उठे पढ़ने वाले 'पनपना', 'तननना' पढ़ते ही
दाईं-बाईं, उल्टी सीधी भाषा भावों पर चढ़ते ही!

यह दिखाने के लिए कि जरा से शब्दों के हेर-फेर से कितना अर्थ का अनर्थ हो सकता है, सप्तदश सर्ग से एक छन्द उद्धृत करना पर्याप्त होगा। इस अंतिम सर्ग में परमात्मा की प्रार्थना है। कवि लिखते हैं:—

तू पितृगण का भी पिता है, राम राम हरे हरे
दक्षादि का भी सृष्टि-कर्ता और पर से भी परे!

कविवर का आशय अवश्य दूसरा है, पर "राम राम हरे हरे" पढ़ कर बोध यह होता है कि कविवर कह रहे हैं:—

"राम राम, हरे हरे, छिः छिः, कैसी अनहोनी बात है! तू पितृ गण का भी पिता बन बैठा है! अरे, तुझे तो पितृगण का पुत्र ही बनना था, पिता क्यों बन गया है!"

\+ + +

फिर भी, आधुनिक वीर-काव्य का जो श्रीगणेश 'हल्दीघाटी' में हुआ है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है और हमें आशा है कि जिन भूलों की ओर हमने ऊपर इशारा किया है, उनको बचा कर अन्य कविवर उसी मार्ग का अवलंबन लेंगे जिसका श्रेय खड़ी बोली में पं० श्यामनारायण जी पांडेय को मिल चुका है।

गोपालशरणसिंह को 'संचिता' और 'ज्योतिष्मती'

विदेशी गेंद-बल्ला के खेलों में भारतवर्ष में 'क्रिकेट' का खेल सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ है। हज़ारों की भीड़, नगर-नगर में, 'क्रिकेट' का खेल देखने में, तल्लीन दिखाई पड़ती है। 'क्रिकेट' के खेल की साधारण बातें सभी पाठक जानते होंगे। जब 'क्रिकेट' का 'मैच' होता है तो एक दल खिलाता है और दूसरा दल खेलता है। खेलने वाले सज्जनों में प्रायः दो श्रेणी पाई जाती हैं। एक तो वे लोग होते हैं जो 'मारते खाँ' या 'हिटर' कहलाते हैं; जिनके हाथ में आते ही बल्ला अन्धाधुन्ध उठा करता है और जो आँख बन्द कर ऐसे ज़ोर से बल्ला गेंद में मारते हैं कि आनन-फानन में गेंद सैकड़ों गज़ दूर जाकर गिरती है।

दूसरी श्रेणी के वे लोग होते हैं जो अन्धाधुन्ध खेलना तो जैसे जानते ही नहीं, गेंद को दस गज़ दूर फेंकना भी जिनकी सामर्थ के बाहिर होता है। गेंद को वहीं के वहीं रोक देना उनके खेल के कौशल की चरम सीमा होती है। ये लोग निरन्तर 'खुट-खुट' से दर्शकों को थका डालते है। ये 'ब्लॉकर' या 'खुटखुट करने वाले' कहलाते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि खेल से अनभिज्ञ अनाड़ी व्यक्ति अन्धाधुन्ध बल्ला तो सुगमता से घुमा सकता है, परन्तु 'खुट-खुट' नहीं कर सकता। 'खुट-खुट' करने वाले में अनुभव, बुद्धि, धैर्य एवं सतत अभ्यास की आवश्यकता हुआ करती है। इसीलिए हर जीतती 'टीम' में 'खुट-खुट' करने वालों का अत्यन्त महत्त्व माना जाता है और हर 'टीम' में एक दो 'ब्लॉकर' विशेष रूप में रखे जाते हैं।

'क्रिकेट' के खेल की तरह साहित्य में भी 'खुट-खुट' करने वालों

की आवश्यकता हुआ करती है। वास्तव में कोई भी साहित्य 'खुट-खुट' करने वालों के बिना नहीं पनप सकता। साहित्यिक 'ब्लॉकरों' द्वारा ही भाषा प्राञ्जल हुआ करती है। भाषा का मँजना तभी संभव हुआ करता जब 'खुट-खुट' करने वाले साहित्यिक सोच-विचार कर, एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य सफ़ाई के साथ छन्दों में बैठाते चले जाते हैं। इन लोगों की कविता में, भावावेश, कल्पना, प्रतिभा या अभिव्यञ्जना अधिक नहीं होती। कविता सीधी-सादी इतिवृत्तात्मक होती है परन्तु इनके द्वारा मँजी हुई परिष्कृत भाषा, साहित्य की अवश्य एक स्थायी सम्पत्ति हो जाती है।

जब द्विवेदी-युग में शृङ्गार रस के कवित्त, सवैये, बन्द होकर नाना प्रकार के विषय नए-नए छन्दों में पद्य-बद्ध होने प्रारम्भ हुए तब खड़ी बोली में भी 'खुट-खुट' करने वाले साहित्यिकों का एक दल आ पहुँचा। इस दल में ठाकुर गोपालशरणसिंहजी का नाम प्रमुख है। खड़ी बोली के माँजने में आपका विशेष हाथ रहा है। 'माधवी', और 'कादंबिनी' के अतिरिक्त 'संचिता' एवं 'ज्योतिष्मती' में आपकी रचनाएँ संगृहीत हैं।

ठाकुर साहब ने नाना प्रकार के विषयों पर इन २५ सालों में कविताएँ लिखी हैं। परन्तु वही सीधी-सादी शैली, वही छन्द, वही सीधे-सादे भाव और वही 'खुट-खुट' अभी तक वैसे-की-वैसे ही चली जा रही है। ज़माना गुज़र गया, द्विवेदी जी आए और चले गए, 'प्रसाद' जी आए और चले गए; 'छायावाद' आया और चला गया; 'उमर खैयामवाद' आया और चला गया; हिन्दी संसार में न जाने क्या-क्या 'वाद' आए और चले गए, परन्तु ठाकुर साहब की शैली में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया! वही सीधी-सादी भाषा और सीधे-सादे छन्द पढ़ते चले जाइये! वहाँ न तो वंशी-ध्वनि ही होगी और न विलाप-ध्वनि ही मिलेगी। ओज, शक्ति, सुकुमारता, कान्ति, मादकता, माधुर्य और वक्रोक्ति भले ही कहीं छिपे हुए दिखाई पड़ जाएँ परन्तु उनके काव्य में ऐसी कोई बात नहीं होगी जो समस्त

हृदय को तरंगायित कर सके। अवश्य वहाँ वाक्यों की भाषा सुमार्जित एवं सुसंगत मिलेगी और उसके ऊपर दिखाई पड़ेगी फूँक-फूँक कर पैर रखने वाले की सावधानता; शब्द बैठालने की सावधानता, पाद-पूर्ति की सावधानता और पद-विन्यास की सावधानता।

'विचित्र-विचार' का एक उदाहरण देखिए—

विभव-हीन हो गए किन्तु हम विभव-गर्व मे अकड़े हैं;
घोड़ा गया, मगर हम उसकी पूँछ अभी तक पकड़े हैं।
अपने हाथ पैर हम रहते स्वयं सदा ही जकड़े हैं,
हैं मनुष्य पर बने हुए हम निरे काठ के लकड़े हैं।

वर्त्तमान भारतवासी का यह चित्र कितना सच्चा प्रतीत होता है।

कहीं-कहीं उक्त-वैचित्र्य अपने आप आ गया है। 'जूही की कली' पर कविता देखिए:—

जूही ही मृदु-मंजु कली—
अपनी कोमलता के घर में लाड़ प्यार से सदा पली।
करती थी निज-घ्राण निछावर उमर भ्रमरों की अवली।
किन्तु छोड़ निज जन्म-भूमि वह बिकती है अब गली गली!!

भाग्य परिवर्तन चक्र के साथ-साथ जन्म भूमि के छोड़ने का परिणाम कितनी सरल भाषा में व्यक्त किया गया है।

× × ×

जहाँ भाषा सरल हो और भाव भी सावधानी से व्यक्त किए जाते हों, वहाँ भाषा-दोष मिलना कठिन ही है। 'न दौड़ चलें—न गिर पड़ें'!

आधुनिक युग में भाषा की उच्छृङ्खलता ने हिन्दी साहित्य को बुरी तरह आच्छादित कर लिया है। उसका प्रभाव यदि ठाकुर साहब की रचनाओं में भी दिखाई पड़े तो आधुनिक युग का ही

दोष समझिए। एक दो उदाहरण अनुचित न होंगे। "तुम और मैं" शीर्षक कविता में लिखा है:—

गगन-विहारी भानु हो तुम अति तेज निधान,
एक सितारा क्षुद्र मैं दीन मलीन महान।
दीन मलीन महान अंधेरे में बसता हूँ,
पाता हूँ जब ज्योति तुम्हारी तब हँसता हूँ।

यहाँ 'महान' शब्द 'अत्यन्त' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है! किन्तु तात्पर्य यह हो जाता है कि "मैं क्षुद्र भी हूँ, किन्तु 'महान' भी हूँ।" अथवा दीन-मलीन होते हुए भी 'महान' हूँ। महान् शब्द से सदा ही महत्व, प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता, मान्यता का बोध होता है। यहाँ पर यह शब्द अशुद्ध एवं अनुचित है 'क्षुद्र' और 'महान' में महान अन्तर है।

एक स्थान पर लिखा है—

सरस-सौरभ-हीन नीरस तुच्छ हैं
पर हृदय के पुष्प के ये गुच्छ हैं
क्या न चरणों पर तुम्हारे मैं धरूँ
फिर भला मैं भेंट क्या तुमको करूँ?

यहाँ 'तुच्छ' और 'गुच्छ' की तुक तो मिल गई; किन्तु यह पता नहीं चलता कि हृदय के एक पुष्प के 'गुच्छ' कैसे बन गए? या हृदय में एक फूल के ही 'गुच्छ' के 'गुच्छ' खिल रहे थे?

एक दूसरे स्थल पर लिखते हैं:—

मन अब लगता है; हा! कहीं भी न मेरा।
दृग-युग-गृह में है अश्रु-धारा-बसेरा॥

यहाँ दोनों नेत्रों में एक 'धारा' का ही बसेरा बना दिया है। अश्रुओं का स्थान बताया होता तो ठीक ही होता। "अश्रु-धारा"

का उद्गम स्थान बताया होता तो भी ठीक रहता। परन्तु जो धारा आँखों से उमड़ कर बाहर बहा करती है, उस 'धारा' का 'बसेरा' आँखों के भीतर कैसे बताया जा सकता है?

'शुभाभिलाष' में लिखते हैं:—

जहाँ शक्ति का बोलबाला रहे वहाँ न्याय का भी उजाला रहे,
गले में पड़ी नीति माला रहे किसी को न कोई कसाला रहे॥

'नीतिमाला' शायद 'रुद्राक्ष' या 'तुलसी' की माला होती होगी जो केवल गले में पड़ी रहती होगी—हृदय में जिसके लिए स्थान नहीं होता होगा। आगे लिखते हैं:—

नहीं सम्पदा आपदा से तने सखी कृपता की न शिक्षा बने,
नहीं दम्भ को भाग्य-लक्ष्मी जने नहीं शूरता क्रूरता में सने॥

यहाँ 'तने' और 'सने' देखने योग्य हैं। 'सम्पदा' शायद 'रस्सी' या 'डोरी' होगी जिसके द्वारा 'आपदा' तानी जाती होगी। और 'शूरता' तथा 'क्रूरता' 'गारा' 'मिट्टी' या 'आटा और बेसन' की तरह एक दूसरे में सानी जाती होंगी!!

'परिणाम' शीर्षक कविता अच्छी है। उसमें एक स्थल पर लिखा है:—

अभी अधूरे पड़े हुए हैं सब दुनिया के काम
रात शाम से ही आ बैठा ले शराब का जाम!

यहाँ 'रात' और 'शाम' की जोड़ी ध्यान देने योग्य है!

इस कविता में निम्नलिखित यदि और जोड़ देते तो और भी अच्छा रहता।

'रात शाम' से ही आ बैठा ले शराब का जाम
'दिवस प्रात' से कविता देवी को कर रहा सलाम!

\+ \+ \+

'जीवन-सागर' शीर्षक कविता में लिखा है:—

कब से नौका पड़ी भँवर में ?
होती है किस भाँति अकरुणा
करुणामय करुणा के घर में ?

'करुणा' के घर में 'अकरुणा' किस भाँति 'करुणामय हो जाती है ? 'निष्ठुरता' और 'अकरुणा' का शायद एक ही अर्थ हो !

एक स्थल पर लिखते हैं:—

सूख न जावें कहीं मृदुल पद-पद्म तुम्हारे;
इस भय से ही अश्रु अर्घ्य अर्पित करता हूँ।
हो न तुम्हारे वासस्थल में कहीं अंधेरा;
इसीलिए मैं व्यथा ज्योति उर में भरता हूँ।

भक्त की भावना तो देखिए। डाक्टर कहते हैं कि अपने पैर गर्म और सिर ठंडा रखो। कविवर परामर्श देते हैं कि नहीं, अपने पैर ठंडे और सिर गर्म रखो! अगर तुम पैर ठंडे न रख सकोगे तो ठंडा करता रहूँगा। इस डर से कि कहीं तुम्हारे पैर सूख न जावें, मैं अपने अश्रुओं से सतत उन्हें गीला करता रहूँगा। भक्त की भावना ही तो है। भगवान कहीं बिचारे अँधेरे में न पड़े हों इसी लिए हृदय की व्यथा को 'टोर्च' बना कर उनके 'वासस्थल' को चमकाता रहूँगा। कहीं बिचारे उठें तो ठोकर खाकर न गिर पड़ें। भगवान को आफ़तों से बचाने का काम भी तो भक्त का है !!

लगभग ऐसा ही विचित्र विचार एक स्थल पर 'गृह-लक्ष्मी' कविता में आ गया है। लिखते हैं:—

कभी तुम्हारे उर में खोटे भावों का न वितान रहे।
अच्छे और बुरे की तुमको हरदम ही पहचान रहे।

दूर तुम्हारे भय से कम्पित क्रूर कुटिल छलवान रहे।
नयन बाण के सहित सर्वदा प्रस्तुत भौंह कमान रहे।

हृदय में शायद 'भावों' का 'वितान' (चंदोवा) रहता होगा! 'बली' और 'बलवान' की तरह ही शायद 'छली' और 'छलवान' होते होंगे।

कवि कहते हैं—"हे गृहलक्ष्मी' अपने हृदय में कभी खोटे भावों को स्थान मत देना। परन्तु किसी के हृदय पर चोट करने के लिए "भौंह-कमान" और 'नयनबाण' दोनों सदा ही प्रस्तुत रखना न जानें किस वक्त मौक़ा हाथ आ जाए! 'सुन्दर' कवि ने लिखा था:—

घूँघट को ओट ह्वै कैं चितयो कि चोट करी
लालन तो लोट-पोट तबही तें भए हैं॥

'गृह लक्ष्मी' को ऐसी चोट करने के उद्देश्य से सदा प्रस्तुत रहने का उपदेश कितना सार गर्भित है?

× × ×

'इटली अबीसीनिया' युद्ध में अबीसीनिया ने राष्ट्रीय-संघ से सहायता की जब व्यर्थ याचना की थी तब ठाकुर साहब ने लिखा—

करता रहा करुण स्वर से तू नाहक़ ही फ़रियाद।
इस दुनिया में किस निर्बल को कभी मिली है दाद?
बधिर कर रहा था कानों को भीषण समर-निनाद।
कहाँ सुनाई पड़ सकता था करुण अहिंसानाद?

यहाँ 'अहिंसावाद', 'समर-निनाद' के साथ-साथ 'दादफ़रियाद' की तुक ठीक नहीं मालूम होती।

कानों से सुनाई नहीं पड़ता तब मनुष्य को ही 'बहिरा' कहा जाता है। यह नहीं कहा जाता कि उसके 'कान बहिरे हैं'। इसी

तरह यह कहना अशुद्ध होगा कि उसकी 'आँखें अन्धी हैं' 'जीभ गूँगी है' 'पैर लँगड़े लूले हैं' इत्यादि। 'समर-निनाद' से कान फूटे जाते थे—ऐसा लिखना ठीक होता। किन्तु यह विषय 'अच्छी हिन्दी' का है। कई साहित्यिकों ने गद्य में लिखा है कि उनके कान बहिरे हो रहे हैं। फिर पद्य का अपराध ही क्या है?

अब; 'दाद' और 'फ़रियाद' का प्रयोग करना अशुद्ध नहीं है। परन्तु फ़ारसी-अरबी शब्दों के लिए छन्द में अलग वातावरण कर लेना चाहिए; या शब्द घुला-मिला लेने चाहिए। 'दाद' शब्द प्राचीन काल से ही हिन्दी कविता में चला आ रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने बड़ी सफलता से "विनयपत्रिका" में प्रयुक्त किया है।

दो तीन उदाहरण देखिए—

(१) कृपासिन्धु जन दीन दुखारे दादि न पावत काहे?

(हे कृपासिन्धु! ग़रीब तुम्हारे द्वार पर न्याय क्यों नहीं पाता?)

(२) दीजै दादि देखि नातो बलि मही मोद मंगल रितई है

(मैं तुम पर बलिहार हूँ! देख कर न्याय कीजिए नहीं तो यह पृथ्वी आनन्द-मंगल से ख़ाली हो जायगी।)

(३) दई दीनहि दादि सो सुनि सुजन सदन बधाय?
मिटै संकट सोच पोच प्रपंच पाप निकाय॥

(भगवान ने ग़रीब के साथ इन्साफ़ किया, यह सुन कर सज्जनों के घरों में मंगलाचार होने लगे; संकट, सोच, नीच प्रपंच और पाप के समूह मिट गए।)

'रसखान' ने भी इसी भाँति 'दाद' को 'दादि' बना कर यह शब्द प्रयुक्त किया है, और दूसरे प्राचीन कवियों ने भी।

गोस्वामीजी ने तो कई 'अरबी' भाषा के शब्दों को अपनी भाषा के साँचे में ढाल कर सुन्दर बना दिया है। अरबी का

'मिस्कीन' लफ़्ज़ है जिसका मतलब 'बहुत ज्यादा सादगी या अत्यन्त दीनता' है। गोस्वामीजी ने 'मिस्कीनी' को 'मिस्कीनता' बना कर कविता में प्रयुक्त किया है, यथा—

> ऐहि दरबार है गरब ते सरब हानि
> लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
> मोटो दसकन्ध सो, न दूबरो बिभीषण सो
> बूझि पार रावरे की प्रेम पराधीनता॥

(इस दरबार में गर्व करने से सर्व हानि है। बड़ी सादगी और ग़रीबी में ही सुख और कल्याण का लाभ है। दशकंध प्रतापी था, विभीषण दीन था। दोनों का भाग्य देख कर तेरे प्रेम से पराधीन मुझे होना पड़ा।)

यहाँ छन्द का वातावरण ही कोमल शब्दों का है। 'मिसकीनता' उसी में घुल मिल गया है।

उर्दू की शायरी में भी ऐसे ही लफ़्ज़ शेर में रखे जाते हैं जो बाक़ी दूसरे लफ़्ज़ों के साथ घुल-मिल जाते हैं। एक मिसाल देखिए—

> फ़ुगाँ में, आह में, फ़रियाद में, शेवन में, नाले में
> सुनाऊँ दर्दे दिल ताक़त अगर हो सुनने वाले में

एक दूसरा शेर देखिए—

> बेअसर हैं नालओ फ़रियाद क्या
> उठ गई दुनिया से रस्मे दाद क्या?

इन दोनों शेरों में 'दाद' और 'फ़रियाद' दूसरे लफ़्ज़ों में हिले मिले दिखाई पड़ते हैं; एक भी लफ़्ज़ ऐसा नहीं जो अलग चलता दिखाई पड़ता हो एक भी लफ़्ज़ ऐसा नहीं जो कानों को खटकता हो। कर्णकटु, भारी या कर्कश शब्द यदि एक भी आ जाता तो शायरी में मज़ा न आ पाता!

ठाकुर साहब की कविता में 'करुण स्वर की फ़रियाद' और 'निर्बल की दाद' छन्द से अलग दिखाई पड़ते हैं। 'करुण-अहिंसावाद' और 'भीषणसमर निनाद' में वह घुल-मिल नहीं सके!

उनकी रचनाओं में सरस भाषा पर अधिक ध्यान भी नहीं दिया गया है। इसीलिये कहीं-कहीं अत्यन्त कर्णकटु एवं कर्कश शब्द भी आ गए हैं। 'परिचय' शीर्षक कविता का एक छन्द देखिये लिखते हैं:—

दीन देख कर कभी किसी पर हम न दया दिखलाते हैं।
अवसर मिलने पर हम सबको सदा हानि पहुँचाते हैं।
किन्तु शत्रुता खुल्लमखुल्ला करने में हम डरते हैं।
सतत ओट में ही रह कर हम चोट सभी पर करते हैं॥

'खुल्लमखुल्ला' शब्द कविता का नहीं है। ज़बरदस्ती घुसेड़ा गया है। परिणाम यह हुआ कि कविता का आनन्द ही चला गया। ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण गवैये ने गाना प्रारम्भ किया हो; और प्रारम्भ होने के अनन्तर ही दमे की बीमारी के कारण "खुल, खुल, खुल, खों, खों, खों," करने लगा हो। गाने का मज़ा ही चला गया।

× × ×

कहीं-कहीं अत्यन्त सरल भाषा होने से भावों का ही पता नहीं चल पाता। 'भरत-भूमि' बड़ी सुन्दर कविता है। उसमें एक स्थान पर लिखा है:—

जिसमें प्रकाश का प्रथम प्रकाश हुआ था
जिसमें विकास का प्रथम विकास हुआ था
सब विभूतियों का जहाँ विलास हुआ था
लक्ष्मी-निवास का जहाँ निवास हुआ था

जो अशरण - शरण सदैव रही दुखहारी
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी

'प्रकाश का प्रथम प्रकाश' 'विकास का प्रथम विकास' और 'लक्ष्मी-निवास' का 'निवास' क्या होता है? कविवर का शब्द-कोष समाप्त प्रतीत होता है। इसमें नीचे लिखा छन्द मिला कर पढ़ लीजिए:—

जिसमें भाषा का प्रथम प्रयास हुआ था
जिसमें कविता का नव - उल्लास हुआ था
शब्दों की आवृत्ति का उपहास हुआ था
भावों का किन्तु न तनिक विकास हुआ था !!
सीधी-सादी अति भोली-भाली प्यारी
'संचिता' वही है तीन लोक से न्यारी !!

× × × ×

गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ'

ठाकुर गुरुभक्तसिंहजी की सब से श्रेष्ठ कृति 'नूरजहाँ' प्रबन्ध-काव्य है। जहाँगीर बादशाह और मेहरुन्निसा (नूरजहाँ) के ऐतिहासिक प्रेम से सभी पाठक भली भाँति परिचित होंगे। इसी प्रेम का वर्णन इस महाकाव्य में किया गया है। भाषा की दृष्टि से प्रबन्ध-काव्यों में 'नूरजहाँ' का स्थान अद्वितीय है और जहाँ तक भाषा-प्रवाह का सम्बन्ध है, अभी तक हिन्दी साहित्य में इतना सुन्दर प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा गया।

'साकेत' और 'प्रियप्रवास' का मूल्य भगवान राम और कृष्ण की कथा के कारण ही अधिक है। परन्तु 'नूरजहाँ' का मूल्य केवल विशुद्ध साहित्यिक ही है।

जब मेहरुन्निसा शेर अफगान के साथ बङ्गाल जाती है उस समय 'विदा' के रूप में कवि की कविता एवं कल्पना कितनी सुन्दर एवं ऊँची हो उठती है, निम्नलिखित अंशों से इसका कुछ-कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा। कवि कहता है:—

वह इन्द्र-धनुष सा शुभ्र विरह-वारिधि का सुन्दर सेतु विदा।
उस करवट ले ले सोनेवाले मन्द भाग्य की याद विदा॥
वह छिप-छिप कर उठनेवाली मन की आनन्द हिलोर विदा।
मेरे मानस में बन्दी होनेवाले वह चितचोर विदा॥
प्यारे दामन की पट्टी से बाँधे चोटों की टीस विदा।
उस मरु प्रदेश में खोई सरिता धारा के बागीश विदा॥

× × × ×

स्वच्छन्द विहँग की सदा अपरिमित ऊँची सुखद उड़ान विदा।
नैराश्य-निशा का कभी न होने वाला सुखद विहान विदा॥

नव-तरल-तरंग-तड़ित बहती तरनी के परिचित कूल विदा।
प्रतिकूल-प्रवाह-प्रगति-नौका के पूर्व पवन अनुकूल विदा॥
ओ भ्रान्ति विदा, ओ शान्ति विदा, ओ अपनी भोली भूल विदा।
ओ मेरी मुरझाई आशाओं की समाधि के फूल विदा॥

दशम सर्ग की प्रथम ५२ पंक्तियों में से ये तो केवल कतिपय उद्धरण हैं। विदाई के समय ऐसे सुन्दर छन्द और इतनी सुकुमार कल्पना साहित्य में मिलना दुर्लभ है।

अनारकली जब नदी पार करने लगती है तब प्राकृतिक दृश्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। लिखते हैं:—

'कादंबर' के पीत पुष्प देखे झाऊ झुरमुट में कूलों पर।
फिर दौड़ गईं उसकी आँखें तट के ऊपर के फूलों पर॥
चरते चीतल भी चौंक उठे आँखें फैला इसको देखा।
फिर चमक चौकड़ी चपल भरी उड़ गए बाण की ही रेखा॥

× × × ×

वह नाप नाप कर पग धरती, बढ़ती थी थाह थाह लेती।
धारा में सरक सरक जाती थी, पग के नीचे से रेती॥
एड़ी डूबी, पिंडली डूबी, घुटने डूबे जब पैर बढ़ा।
फिर उसके भरे नितम्बों पर, धीरे ही धीरे सलिल चढ़ा॥
कटि से लहरों के किंकिण में बुदबुद के घुँघरू लटक गए।
जल भँवरों के कितने ही दल यह कमल देख कर अटक गए॥
उर मिल कर जीवन उर्मिल से रोमांचित होकर उठा सिहर।
फिर उसकी ग्रीवा में लहरों ने पुलकित होकर डाला कर॥

वर्णन की रोचकता के साथ-साथ भाषा-प्रवाह की इतनी अबाध एवं सरल गति और कहीं मिलना कठिन है। मुहावरों का इतना प्रचुर और सुन्दर प्रयोग अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। अरबी और फ़ारसी शब्द आते रहने पर भी न तो भाषा-प्रवाह में ही

रुकावट आ पाई है और न किसी प्रकार की दुरूहता ही प्रतीत होती है। जो शब्द प्रयोग किये गये हैं उनका वातावरण भी उनके उपयुक्त ही है। अनावश्यक न तो वे शब्द प्रतीत ही होते हैं; और न प्रतिकूल वातावरण में ज़बरदस्ती ठूँसे ही गये हैं। यदि 'नूर-जहाँ' का आदर्श खड़ी बोली के पद्य में रहा होता तो हिन्दी साहित्य का मार्ग कुछ दूसरा ही हुआ होता और "हिन्दी बनाम हिन्दुस्तानी" का वह उग्र झगड़ा अपने आप निबट गया होता जो प्रत्येक भारतवासी के लिये आज लज्जा की बात बन रहा है। श्रीभगवतशरण उपाध्यायजी, एम० ए० तो इस प्रबन्ध-काव्य पर इतने मुग्ध हुए कि प्रत्येक अध्याय पर अध्याय से दुगने आकार में उन्होंने समालोचना ही लिख डाली। जो सज्जन 'नूरजहाँ' के विषय में अच्छी जानकारी चाहते हैं उन्हें यह समालोचना अवश्य पढ़नी चाहिए।

× × ×

प्रबन्ध-काव्य के लिए यह आवश्यक है कि न तो प्रबन्ध का सिलसिला ही टूटने पाए और न कहीं पर भी भाषा-शैथिल्य आने पाये। 'नूरजहाँ' में प्रबन्ध का सिलसिला कहीं भी टूटने नहीं पाया। अवश्य ही अनारकली सम्बन्धी परिच्छेदों का कथानक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। बारहवें परिच्छेद की कथा यदि ऐतिहासिक तथ्य है तो भी कम कर दी जाती तो अधिक रोचक होती। अकबर-अनार का सम्भाषण और जमीला अकबर का सम्भाषण कवि में सामन्तिक अनुभव की कमी इंगित करते हैं।

इतने बड़े प्रबन्ध-काव्य 'नूरजहाँ' में अगर भाषा-प्रवाह कहीं बिगड़ा भी है तो ऐसे स्थल बहुत कम हैं। भाषा-दोष इतने बड़े आकार की पुस्तक में आना सुगम है। एक उदाहरण अनुचित न होगा। दशम सर्ग की भाषा अति-रंजित है। एक स्थान पर है—

"रज—जिसमें विभूतियाँ अगणित मिली हुई हैं सतियों की।
रज—जिसमें समाधियाँ सोईं कितने योगी यतियों की॥

रज—वह जिसमें रक्त मिला है अमर शहीदों वीरों का।
जो स्वदेश-हित हुए निछावर अटल व्रती रणधीरों का॥
यह पावन रज त्रिभुज अंक में सिन्धु निकट वे भर लेतीं।
उठ उठ कितना जलधि माँगता किन्तु नहीं उसको देतीं॥
प्रकृति नटी का रंगमंच वह, रम्य देश प्यारा बंगाल।
वहाँ पहुँच कर नवदम्पति वह, छटा निरख हो गया निहाल॥

यहाँ भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ भाषा प्रवाह अत्यन्त आकर्षित हो गया है। इसी छन्द के बाद निम्नलिखित पंक्तियाँ आ जाती हैं:—

धीरे धीरे और मन्द गति, जाता है यदि पूर्व मलय!
सुरभि-सुन्दरी सुमन सेज पर सोई, जग न जाय निर्दय!
विरह सिन्धु के मन्द सलिल में प्रिय अभिलाषा का जलयान।
जीवन में निर्जीव पड़ा है तू ने फूँका तनिक न प्रान॥
जाना ही है रुचिर देश में तो मत मित्र अकेले जा।
सूखे पालों में भर कर तू मेरी नौका ठेले जा॥

यहाँ प्रतीत होता है कि सूखी रेती में भाषा की नौका ठेली जा रही है! सुरभि-सुन्दरी को निर्दय क्यों बना दिया गया? प्रिय अभिलाषा के जल-यान में प्रान कैसे फूँके जा सकते हैं? विरह-सिन्धु के सलिल की मन्दगति से क्या तात्पर्य है?

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है कि काव्य में किसी भी दोष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार सुन्दर सुडौल शरीर को एक छोटा सा कुष्ठ-धब्बा दूषित कर देता है उसी भाँति बड़े से बड़े काव्य को एक दोष ही दूषित करने में समर्थ हो सकता है। कवियों और समालोचकों का ध्यान इस ओर बहुत ही कम गया है, इसीलिए आज के सुन्दर काव्य-ग्रन्थों में भी भद्दे-भद्दे दोष स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं। जिस 'नूरजहाँ' के भाषा-

प्रवाह और भाषा-सौष्ठव पर गर्व होना चाहिए उसी 'नूरजहाँ' में जमीला के मुँह से कहलाए निम्नलिखित वचन पढ़ कर न जाने कितनी ग्लानि होती है:—

हाँ मरते हैं मुझ पर कितने, सूरत हो तो ऐसी।
खटक रही हूँ जिसके दिल में, उसकी ऐसी तैसी॥

जमीला ने तो शायद और भी अपशब्द अपने मुँह से निकाले होंगे। उनको भी उद्धृत कर देते तो भाषा का बड़ा उपकार होता। कहाँ तो भाषा की पहिली ऊँची उड़ान और कहाँ फिर वही भाषा समतल के नीचे भी धसकने लगी!

एक स्थान पर कवि ने लिखा है:—

तुम 'कम्पा' यह ले जाओ, मुझ पर न लगेगा लासा।
दृढ़ता जल में गल जावेगा तेरा जाल-बतासा॥

यहाँ लासा और 'बतासा' की तुक देखने योग्य है। तुक मिलाने के लिए 'दृढ़ता' सरीखी ठोस वस्तु को जल-सा तरल बनाना पड़ा। शायद 'ढुल-मुल-यकीनी' के ढीलेपन को हथौड़े की सख़्ती से समता दी जानी ठीक होगी!!

एक दूसरे स्थान पर ओठों को 'सकोरा' ही बना दिया है। लिखा है:—

ओठों से नहीं लगे हैं, कोरे हैं अधर-सकोरे।
है मन्द प्रात मलयानिल, उठते हैं नहीं झकोरे॥

पत्तल, दौने और कुल्हड़ और दिखा देते तो सकोरों का अकेलापन शायद खटकता नहीं!

एक स्थान पर लिखा है:—

सागर में जलपक्षी उड़कर कहीं पकड़ते होवें मीन।
छोटा-सा मूँगा-समूह का द्वीप बना हो कहीं नवीन॥
जिस पर बैठे अगणित पक्षी सेते हों अण्डे अपने।
लग्न एकान्त तपस्वी मानो बैठे हों माला जपने॥

इस सूक्ष्म दृष्टि की कितनी प्रशंसा की जाय? पक्षियों का अण्डा सेना अवश्य ही तपस्वियों का माला जपना प्रतीत होता होगा! माला भी गोल और अण्डा भी गोल। और उत्प्रेक्षा भी बिलकुल गोल—अगणित तपस्वी जहाँ बैठे हों वहाँ भी एकान्त ही बना रहेगा!

एक स्थान पर है:—

ऐसी कुन्दी मैं कर दूँगी तू कलप कलप मर जाये।
मैं सौंद सौंद कर फींचूंगा तू घाट घाट फिर मर जाये॥

'कुन्दी कर देना' और 'सौंद-सौंद कर फींचना' अवश्य ही सुन्दर भाषा के मुहावरे हैं। इसी प्रकार—

फिर किसने गिटकिरियाँ भर कर ली अलाप पंचम में।
फिर कैसी उतार स्वर लहरी ताल तोड़ दी सम में॥

'गिटकिरियाँ भरने' से महाकाव्य की शोभा अवश्य ही बढ़ रही है। न जाने कितने ऐसे प्रयोग 'नूरजहाँ' में आते चले गए हैं।

× × × ×

क्षेमेन्द्र ने संस्कृत भाषा में 'औचित्य विचार चर्चा' नाम की समालोचना-सिद्धान्त की पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि औचित्य ही काव्य की आत्मा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रबन्ध-काव्य में विशेषतया औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। चौदहवीं शताब्दी की कथा में मोटरकार दिखाना अनौचित्य होगा। उसी प्रकार मुसलमानों के यहाँ बाइ-

बिल और अंग्रेज़ों के यहाँ क़ुरान का महत्व बतलाना भी अनौचित्य होगा।

हिन्दी का दुर्भाग्य है कि बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्यों में भी अनौचित्य की भरमार मिलती है। 'नूरजहाँ' में भी यत्र-तत्र अनौचित्य के उदाहरण मिलते हैं। भारतीय हिन्दू-समाज में बच्चों के माथे पर काजल के टीके लगाने की प्रथा को देखकर कवि ने वही प्रथा कन्धार में भी बता दी है। लिखा है—

थे अभी अभी पहिनाए कपड़े सफ़ेद नहलाकर।
मण्डित कर आभूषण से इक टीका श्याम लगाकर॥

मेहरुन्निसा के अवश्य ही क़ाजल का टीका लगाया गया होगा और वह भी कन्दहार शहर में!

शायद इस हिन्दूप्रथा का उस पर आजन्म प्रभाव रहा होगा। इसीलिए उससे "जगदाधार" का स्मरण और "पाषाण मूर्त्ति का ध्यान" कराना उचित समझा गया। कुतुब से जब शेर अफ़गन मिलने जाता है तब मेहरुन्निसा की अवस्था कवि ने निम्नलिखित बताई है:—

आँखों में आँसू भर ऊपर देख कहा, हे जगदाधार।
"रक्षा करना, उठती है मन में आशंका बारम्बार॥
गए अकेले संग न कोई करना कुशल अरे रहमान!"
रही चढ़ाती आँखों का जल, कर पाषाण मूर्त्ति का ध्यान!!

'रहमान' और 'जगदाधार' का जोड़ा देखने लायक है। मेहरुन्निसा ने अवश्य ही "पाषाण मूर्त्ति का ध्यान" करके जल चढ़ाया होगा!!

मेहरुन्निसा का विवाह तो अवश्य वैदिक पद्धति से ही हुआ होगा। कवि ने लिखा है:—

जब समय हुआ दूल्हा जाकर सब धार्मिक रीति रस्म करके !
उस मेहरुन्निसा सुन्दरी को, लाया अपने घर पर, वर के ॥

कविवर ने धार्मिक रीति-रस्म की छाया प्राकृतिक दृश्यों में दिखाकर काव्य-पटुता का परिचय दिया है ! लिखा है:—

पियरी पहिन खड़ी है सरसों, आम खड़े हैं लेकर मौर ।
वेद मन्त्र से पढ़ते फिरते हैं फिर फिर भौंरों के भौंर ॥
कनक पत्र के विमल पाँवड़े बिछा किया स्वागत छबि ने ।
प्रकृति बधू के सँग पुरुष को बैठाया सादर रवि ने ॥
ले बरबधू तितलियाँ सुन्दर करा रही हैं भाँवरियाँ ।
उस प्रमोद सागर में झिझरी खेल रही हैं दृगतरियाँ ॥

अहले इस्लाम की शादी के वक्त मजहबी रस्मों में—वेद मंत्र, भाँवरें, और प्रकृति एवं पुरुष का मिलन—अवश्य ही ऊँचा स्थान रखते हैं ! कवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय है या यह अनौचित्य की पराकाष्ठा है ?

मुसलमान अफ़सरों से मुसलमान शासक को भी 'नमस्कार' कराना ही उचित समझा गया ! लिखते हैं:—

नमस्कार कर कहा मीर ने क्षमा कीजिएगा सरकार ।
हुक्म बजा लाने में मुझको कभी नहीं होता इनकार ॥

मीर मुअज्जम ने अगर शेर अफ़गन को 'नमस्कार' किया होगा तो आधुनिक पद्य में हिन्दू पंडित शायद हिन्दू राजाओं को 'सलाम मालेकम्' कहते होंगे !

वास्तव में, ऐसे-ऐसे स्थल, 'नूरजहाँ' में पढ़ते-पढ़ते यह प्रतीत होता है कि कहीं कवि को कालिदास की शकुन्तला पर खड़ी बोली में यदि महाकाव्य लिखना पड़ता और कहीं ऋषि कण्व के आश्रम-

वासियों और राजा दुष्यन्त का संवाद भी लिखना पड़ता तो अवश्य यही लिख देते कि:—

'अदाबर्ज़' कह ऋषिवर बोले, "बन्दापरवर जहाँपनाह
बेटी शकुन्तला से अब करना है तुमको 'सही निकाह'
'फासिद'-'बातिल-ध्यान छोड़कर, हो 'ईजाब-क़ुबूल' रिवाज़
दो मर्दों की भरी गवाही—रीति रस्म पूरी हो आज"
पढ़ें 'हदीस' 'क़ुरान' भँवरगण, 'महर' तै करें अप्सरियाँ
देख तमाशा भाषा भी अब ख़ूब भरेगी चौकड़ियाँ!

शायद यह भाषा, भाषा-पारखियों को रुचिकर प्रतीत होगी!

सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी'

पंडित सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के एक सफल राष्ट्रीय कवि हैं। उनके राष्ट्रीय गीतों का संग्रह 'भैरवी' के नाम से छपा है। उनके गीत, गीतों का राग, और गीतों की भाषा राष्ट्रीय भावुकता से तो ओत-प्रोत है ही; साथ-साथ उस भाषा में जो सजीवता आ गई है वैसी सजीवता अन्य राष्ट्रीय कवियों की कविताओं में कम मिलती है। भाषा की ऐसी सजीवता किसी भी गीत को हृदय के दूर के कोने तक ले जाने में समर्थ होती है। शायद इसीलिए जन-साहित्य की दृष्टि से द्विवेदीजी अत्यन्त लोकप्रिय एवं सफल कवि हैं।

उनकी भाषा सामान्यतया शुद्ध है—यद्यपि ३७ गीतों के बड़े संग्रह में कहीं-कहीं एक-दो दोष दिखाई पड़ते हैं जो क्षम्य हैं।

कम-से-कम दो-एक दोष 'भैरवी' में ऐसे हैं जो कानों को बुरी तरह खटकते हैं। 'आग' को 'आगी' लिख देना और जेल के 'सींकचों को 'सिंकचा' कर देना भाषा को बिगाड़ना है।

इसीलिए 'राणा प्रताप के प्रति' शीर्षक कविता के प्रथम छन्द में यह दोष खटकता है, यथा:—

कल हुआ तुम्हारा राजतिलक
बन गए आज ही वैरागी?
उत्फुल्ल मधु-मदिर सरसिज में
यह कैसी तरुण अरुण आगी?

अन्तिम दो चरणों का अर्थ करने पर भाव भी कुछ अच्छा नहीं रह जाता।

इसी प्रकार 'विषमता' में लिखा है:—

मैं रागी तुम बैरागी,
तुममें मुझमें समता ही क्या ?
मैं पानी हूँ तुम आगी

'सेगाँव के सन्त' में लिखा है—

किसने स्वतन्त्रता की आगी
पग पग मग मग में सुलगा दी ?

पृष्ठ ६१ पर एक सुन्दर कविता 'स्वागत सुमन' शीर्षक से है। उसका पहिला छन्द है:—

माँ ने किया पुकार, बढ़ा तू
चढ़ा हुआ कुरबान !
हमने देखा तुझे टहलते
सिकचों के दरम्यान !

इसी प्रकार 'नवझाँकी' में तीसरा छन्द यह है:—

ज़ंजीरों ने चुरा लिया
बनमाला की छवि बाँकी
सिकचों में लख आया हूँ
मनमोहन की नव झाँकी

'बनमाला की छवि चुरा ली' या 'चुरा लिया ?'
'आगी' और 'सिकचों' के साथ-साथ 'पीठी' शब्द भी बुरी तरह खटकता है।

आँखें भीतर जा रही धँसी
किस रौरव का बन रहीं कूप ?
लग गया पेट जा पीठी से
मानव ? हड्डी का खड़ा स्तूप !

स्तूप का विशाल आकार होता था। अत्यन्त दुबले-पतले मनुष्य को 'हड्डी का स्तूप' कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

'विप्लवगीत' का पहला छन्द है:—

रवि गिरने दे, शशि गिरने दे
गिरने दे, तारक सारे,
अचल हिमांचल चल होने दे
जलधि खौल कर फुंकारे

खौल कर भी समुद्र, शेषनाग नहीं बन जाता जो फुंकारने लगे। 'फुंकारे' के स्थान में 'हुङ्कारे' अधिक उपयुक्त होगा।

दूसरा छन्द है:—

धरा धसकने दे पग-पग में
शैल खिसकने दे जल में
दाहक प्रभुता का मोहक
आवरण मसकने दे पल में

'दाहक' और 'मोहक' साथ-साथ अशुद्ध हैं; एक चरण में बुरे भी लगते हैं। 'प्रभुता के आवरण' के 'मसके जाने' से तात्पर्य क्या हो सकता है? 'धसकने' और 'खिसकने' के मुक़ाबले में अधिक ओजप्रद शब्द की यहाँ आवश्यकता है।

आगे का एक छन्द है:—

धूम्रकेतु चमके, चमके शनि
चमके राहु, त्रास पल-पल
होवें ग्रह बारहों केन्द्रित
विकल करें रव दिग्मंडल

धूम्रकेतु भले ही चमकता हो, राहु तो किसी ने चमकता नहीं देखा। राहु केवल छाया ग्रह है। अर्थात् पृथ्वी सूर्य के चारों ओर

भ्रमण करती है। उस मार्ग को जहाँ चन्द्रमा काटता है वह स्थान राहु कहलाता है। हिन्दू ज्योतिष 'नवग्रह' का ही अस्तित्व मानता है, बारह ग्रह का नहीं। सात ग्रह ही एकत्रित हो सकते हैं, नव-ग्रह नहीं। 'केन्द्रित' का अर्थ केन्द्र में रहने से प्रतीत होता है। एकत्रित अच्छा शब्द है।

'विकल करें रव-दिग्मंडल' फिर भी रह जाता है। 'विकल होकर दिग्मंडल शोरगुल करें' शायद यह अर्थ होगा। परन्तु शब्दों से यह अर्थ-बोध नहीं होता।

उज्जैन एवं अवन्तिका, (अवन्ती) एक ही बात है परन्तु अलग-अलग लिखे गए है—

ये मगध, अयोध्या, ऋषिपत्तन
उज्जैन अवन्ती के प्रांगण

और

भूल गये वृन्दावन मथुरा
भूल गये क्या दिल्ली झाँसी?
भूल गये उज्जैन अवन्ती
भूले सभी अयोध्या वाशी?

× × × ×

'भैरवी' राष्ट्रीयता की झङ्कार है। सामयिक कविताएँ भावुकता प्रधान-राष्ट्रीयता की गति की ताल पर रची गई हैं। उस भारतीय राष्ट्रीयता का रूप भी उसमें व्यापक पाया जाता है। और इसीलिए जहाँ-जहाँ 'टोली' शब्द आया है वह कानों को बुरी तरह खटकता है। क्योंकि 'टोली' शब्द अत्यन्त संकीर्णता की ओर इंगित करता है। सर्व-व्यापी राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक प्रतीत होता है। परन्तु द्विवेदी जी का यह शब्द अत्यन्त प्रेम-पात्र हो रहा है। जहाँ देखो वहीं 'टोली' शब्द का प्रयोग कर डाला है। कुछ उदाहरण अनुचित नहीं होंगे:—

(१) मेरे वीरो तैयार रहो
फिर मेरी बजने वाली है,
मेरे तीरो तैयार रहो,
फिर टोली सजने वाली है

तीरो ! क्या ? क्या ? क्या कविवर तरकस हैं जो तीरों को एकत्रित कर रहे हैं ?

(२) हम अमर शहीदों की टोली में
नाम लिखाने वाले हैं
हम मातृभूमि के सैनिक हैं
आज़ादी के मतवाले हैं

(३) बच्चों बूढ़ों, माँ-बेटों की
बहनों-भाई की यह टोली
झूमती चली मतवाली बन
उन पर खाने गोला-गोली

(४) लहरें बोलीं, तट पर आकर
देखो, वह टोली है आई।

कर्णकटु एवं संकीर्ण 'टोली' शब्द के स्थान में अधिक मधुर एवं अधिक व्यापकता के आभास के परिचय देने वाले शब्द की आवश्यकता है।

एक स्थान पर लिखा है :—

मातायें छोड़ें पुत्रों को
पति को छोड़ें बालाएँ
अपनी-अपनी पड़े सभी को
प्राणों के लाले छायें

धुआँधार हो, अंधकार हो
कहीं न कुछ सूझे, देखे
स्वयं विधाता भस्मसात् हो
भूल जाय लिखना लेखे

यहाँ पर 'बालाएँ', 'सूझे, देखे', 'लिखना लेखे' अशुद्ध एवं चिन्त्य प्रयोग हैं। मुहाविरा यह है कि सभी को 'प्राणों के लाले पड़े हैं'। यह नहीं कहा जाता कि 'प्राणों के लाले छाए हैं'।

इसी प्रकार 'बेइज्जती' के दाग' हमको जगा रहे हैं अथवा 'अपमान के काले धब्बे हमारी स्मृति को अभी तक ताज़ा किए हुए हैं"—यह कहना ठीक रहता है। परन्तु निम्नलिखित शब्द अशुद्ध प्रयुक्त किए गए हैं :-

जागो ! प्रताप, मा-बहनों के
अपमान-छेद हैं जगा रहे

'काँटों की कटु झोंपड़ियाँ', 'बेटी की प्यासी दाहों में', 'करुणा लोचन मीचे', शासन सत्ता के गर्व बहे' 'उठती नवजीवन की नीवें' यह प्रयोग चिन्त्य हैं।

काँटों की झोंपड़ियों के लिए मीठा और कड़आ विशेषण असंगत है। 'भूखी आहें' तो ठीक हो सकती हैं परन्तु 'प्यासी दाहें' कैसी होती हैं ? 'दग्ध-हृदय की दाहें' तो समझी जा सकती हैं। 'लोचन' शुद्ध संस्कृत शब्द है और 'मीचे' ग्रामीण भाषा का दोनों का मिश्रित प्रयोग बुरा मालूम पड़ता है। 'तरुण तपस्वी' के लिए 'करुणा-लोचन' असंगत भी है।

फिर, 'सम्राज्यवाद के दुर्ग ढह जाना' तो समझ में आता है परन्तु शासन-सत्ता के गर्व बह जाना समझ में नहीं आता। 'गर्व मिट जाना' होता तो ठीक था।

'नवचेतन की दिव्य दृष्टि लेकर नवजीवन की नीवें उठती हैं'—यह अशुद्ध प्रयोग है। नवजीवन की नींव डाली जाती है—बुनियाद डाली जाती है—क़ायम की जाती है—ये प्रयोग भाषा में शुद्ध हैं।

'राजतंत्र के खंडहर में स्वतंत्र भारत का अभिनव जन्म हो रहा है'—कुछ ठीक होता। परन्तु स्वतंत्र भारत कोई कुकुरमुत्ता का पौधा थोड़ा ही है जो खंडहर में उग रहा हो।

'महर्षि मालवीय' शीर्षक में लिखा है:—

तुम्हें आजकल नहीं और धुन
केवल आज़ादी की चाह।
रह-रह कसक-कसक उट्ठा
करती है उर में आह कराह

हृदय में एक साथ ही रह-रह कर आह और कराह का उट्ठा करना अस्वाभाविक है। 'आज़ादी' के लिए 'कराह' का उठना भी असंगत है। 'उट्ठा करती है' भी बुरा प्रतीत होता है। वेदना के लिए 'कसक-कसक' शब्द समीचीन हो सकते हैं परन्तु 'आह' के साथ अशुद्ध प्रयोग होगा। 'कसक-कसक कर पीड़ा का उठना ठीक हो सकता है। परन्तु 'कसक-कसक कर पीड़ा का उट्ठा करना' एक अजीब भाषा प्रतीत होती है। इसी प्रकार

कल लखनऊ गूँज उट्ठा था
आज हरिपुरा हहर उठे

में 'गूँज उट्ठा' और 'हहर उठे' कानों को खटकते हैं।

'त्रिपुरी कांग्रेस' पर एक बड़ा सुन्दर गीत है। उसमें एक स्थान पर लिखा है :—

जय-घोषों की तुमुल-ध्वनि में
यह बढ़ा महोत्सव आगे फिर,

पहुँचा था जहाँ लहर लेता
भारत का ध्वजा व्योम को तिर

'तुमुल-ध्वनि' और 'बढ़ा महोत्सव' कर्णकटु शब्द हैं। 'चल-समारोह' या 'जलूस' की जगह 'महोत्सव' लिखना अशुद्ध है। भारत का झंडा 'व्योम को तिर' कर लहर लेता पहुँचा, एक चित्य प्रयोग है।

इसके आगे एक स्थान पर है—

था सजा मातृ-मन्दिर पावन
सतपुड़ा शिखर के कोने में
भारत जन-सागर सिमट गया
नर्मदा नदी के दोने में

भाषा-प्रवाह बड़ा अच्छा है। परन्तु अर्थ में बहुत खींचातानी करनी पड़ेगी। सतपुड़ा शृङ्ग का कोना, नर्मदा नदी का दौना, किस तरह बनाया जा सकेगा?

एक कविता है 'आजादी के फूलों पर' उसका दूसरा छन्द है—

रक्तपात विप्लव अशान्ति
औ' कायरता बरकाते चल
जननी की लोहे की कड़ियाँ
रह रह कर सरकाते चल

'रक्तपात, विप्लव और अशान्ति संस्कृत के शब्द हैं, परन्तु बरकाते चलना' उर्दू का लफ्ज है। सब को मिला कर भाषा बिगाड़ी गई है। विप्लव एवं अशान्ति के साथ कायरता की ठूँस-ठाँस की है। सब को बरकाते चलने से क्या तात्पर्य हो सकता है? मातृभूमि की लोहे की कड़ियों को रह-रह कर सरकाते चलने से क्या मतलब है? भाषा अस्त-व्यस्त है।

'किसान' शीर्षक कविता भावोच्छवास एवं छन्द-विन्यास की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। उसके दो छन्द निम्नलिखित है—

(१) ये मेहमान, ये मेज़मान
साक़ी, सूराही का समान
ये जलसा महफ़िल, सभा, शा
ये करते हैं किस पर गुमान ?

(२) नम्रता, विनय, अनुनय मान
सज्जनता, मधुर स्वभाव ज्ञान;
आगत-स्वागत, सम्मान-मान;
सरलता, शील के विशद गा

द्वितीय छन्द का चतुर्थ चरण तो अशुद्ध प्रतीत होता है। शायद छापे की भूल हो। 'शील' के विशद गान कैसे होते हैं ?

प्रथम छन्द की द्वितीय पंक्ति भी सदोष और कर्ण-कटु हो रही है। 'सुराही' का 'सूराही' करके 'सामान' का 'समान' भाषा की खींचातानी है। तीसरी पंक्ति में 'समाँ' और द्वितीय पंक्ति मे 'समान' क़रीब-करीब यकसाँ जँचते हैं। कवि का आशय अवश्य ही एक नहीं है। परन्तु ये स्पष्ट भाषा-दोष हैं जिनको हटा देना ही अच्छा होगा।

'युगावतार गांधी' शीर्षक कविता अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी है। इसका एक छन्द है :—

बढ़ते ही जाते दिग्विजयी !
गढ़ते तुम अपना रामराज,
आत्माहुति के मणि-माणिक से
मढ़ते जननी का स्वर्ण ताज !

'बढ़ते', 'गढ़ते', 'मढ़ते' की ध्वनि कर्ण कटु है। 'गढ़ना' शब्द में संकीर्णता का आभास मिलता है। रामराज ऐसी लघु वस्तु

प्रतीत होती है जो आसानी से गढ़ी जा रही हो !! या जिसको गांधी जी फुरसत में बैठे झट गढ़ लेते हों। शब्दों से तो यही प्रतीत होता है। आत्माहुति का मणि-माणिक क्या वस्तु है ? माणिक एक रत्न है जिसे लाल कहते हैं। मणि अत्यन्त चमकने वाली वस्तु है। कवि का अर्थ यह मालूम होता है कि भारत जननी के सुवर्ण के ताज में तुम अपने आत्माहुति के मणि-माणिक जड़ रहे हो जिससे वह सुवर्ण-ताज और भी मूल्यवान हो जावे। परन्तु 'मढ़ने' और 'जड़ने' में बहुत फ़र्क है। और मणि एवं माणिक में से एक वस्तु ही लेनी अच्छी प्रतीत होती है। आत्माहुति की उपमा मणि से दी जा सकती है परन्तु श्वेत-रक्त मिश्रित वर्ण (मणि-माणिक) की समता आत्माहुति से देनी समीचीन नहीं है।

एक आगे का छन्द इसी कविता का है :—

कँपता असत्य, कँपती मिथ्या,
बर्बरता कँपती है थरथर !
कँपते सिंहासन, राजमुकुट
कँपते खिसके आते भू पर

'असत्य' और 'मिथ्या' में क्या भेद है—हमको नहीं मालूम। शायद कुछ हो। तभी उपनिषद् में 'सत्य' के लिए, 'ऋतं', 'सत्यं', 'अनृतं', तीन शब्द प्रयोग किए गए हैं। शायद असत्य और मिथ्या में कोई भेद होगा। या कवि ने लय के लिए पुनरुक्ति दोष की परवाह नहीं की ?

ख़ैर, चतुर्थ चरण में 'खिसके आते भू पर'—शब्दों से पता चलता है कि स्वर्ग और आकाश से सिंहासन और राजमुकुट कँपते हुए ज़मीन पर खिसके आ रहे हैं। परन्तु कवि का अर्थ यह नहीं है। भाव और भाषा अलग-अलग चल रहे हैं। द्वितीय पंक्ति की भाषा के मुक़ाबिले में चतुर्थ पंक्ति की भाषा अधिक ओजप्रद, अधिक सजीव एवं अधिक गठित होनी आवश्यक थी, जो यहाँ नहीं है।

'बंग-दर्शन'

(१)

युग-धर्म और कला के समन्वय की आवश्यकता सदा ही बताई गई है। एक समय होता है जब कला सामाजिक उत्तरदायित्व से बहुत दूर पहुँच कर केवल कल्पना-क्षेत्रों में ही किसी सत्य की खोज करने लगती है; परन्तु दूसरा समय होता है जब कलाकार सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना न करके समाज, इतिहास और राजनीति की भूमि पर उतर कर अपनी कलात्मक विदग्धता का सुन्दर परिचय देता है। साहित्य जीवन का प्रतिविम्ब होता है और इसीलिए साहित्य कोई-न-कोई रूप धारण कर जीवन को वेग देता रहता है।

जब-जब समाज में कोई भीषण परिस्थिति घटित होती है कलाकार एवं काव्यकार स्वयं ही आगे आकर उस परिस्थिति का ऐसे ढंग से चित्रण करता है कि जिसके द्वारा समाज के मानस का नव निर्माण होता है और समाज को जाग्रत करने में वह सफल होता है। साहित्य को इसलिए समाज की प्रेरक शक्ति भी माना गया है? काव्यकार एवं कलाकार की शक्ति एवं प्रतिभा की भी परीक्षा ऐसे समय ही हुआ करती है। यदि ऐसे अवसर पर कवि या कलाकार की प्रतिभा समाज को सहायता नहीं पहुँचा सकती तो वह प्रतिभा कुंठित मानी जाती है।

हाल में बंगाल के अकाल के समय ऐसी ही भीषण परिस्थिति उपस्थित हुई थी और देश के काव्यकारों की वास्तविक परीक्षा का यही समय था। बंगाल की उस अवस्था का चित्रण कई हिन्दी कवियों ने अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयग्राही शब्दों में किया था। परन्तु बहुत से कवि महानुभाव उस समय अपनी प्रतिभा न

दिखला सके। कर्तव्य की दृष्टि से कुछ-न-कुछ पद्य लिखने पर मजबूर हुए परन्तु वास्तविक जगत से अत्यन्त दूर के वातावरण में उड़ते रहने में अभ्यस्त होने के कारण, समाज की पृष्ठभूमि पर आते ही उनकी प्रतिभा कुंठित होने लगी।

प्रयाग महिला-विद्यापीठ का यह प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है कि महान् कवियों ने जैसी कविताएँ लिखीं वैसी ही छपवा कर और एकत्रित करके पुस्तक रूप में जनता के सम्मुख उपस्थित कर दीं। इनको पढ़ कर यह सुगमता से पता चलता है कि हमारे कवियों में किन-किन में वास्तविक अवस्था के चित्रण करने की भी शक्ति नहीं है और कौन-कौन भीषण परिस्थिति में भी आकाश में उड़ने में ही कला का परिचय देना अभीष्ट समझते हैं।

'निराला' जी के 'पाँचक' पर अधिक लिखना उपयुक्त न होगा। चौपदों के अनुरूप यह 'पाँचक' प्रयुक्त किया गया है। उसका सम्बन्ध भी बंग-दर्शन या बंगाल के काल से है या नहीं—शब्दों से परिचय तक नहीं मिलता। लिखते हैं:—

दीठि बँधी, अँधेरा उजाला हुआ,
सेंधों का ढेला शकरपाला हुआ।
राह अपनी लगे, नेता काम आया,
हाथ मुहर है मगर छदाम आया।

× × × ×

माल हाट में है मगर भाव नहीं,
जैसे लड़ने को खड़े दाव नहीं।

निराला जी के पद्यों का अर्थ समझना कठिन है। बंगाल के अकाल में असाधारण बात यह थी कि कंट्रोल के भाव क़ायम थे, गज़ट में छपते थे। परन्तु माल हाट में रहा ही न था। फिर 'पाँचक' के अंतिम छन्द का क्या तात्पर्य है समझ में नहीं आता।

यह वक्रोक्ति है ? या व्यंगोक्ति ? यह भी समझ में नहीं आता। अधिक टीका-टिप्पणी वृथा है। इसको पढ़ कर प्रथम प्रथम जो हमारे हृदय में भाव उठे वे 'पाँचक' की फैशन में निम्नलिखित थे। हम उन्हें ज्यों-का-त्यों, बिना संशोधन के, यहाँ उद्धृत करना उचित समझते हैं:--

फ़सल अच्छी थी, अकाल न था।
भाव थे, मगर हाट में माल न था ॥ १ ॥
लाखों लोग रोज़ भूखों मरते थे।
दाने-दाने को तरसा करते थे ॥ २ ॥
कवि के हृदय में उजाला हुआ।
आस्माँ का तारा शकरपाला हुआ ॥ ३ ॥
उड़ के खाने को कवि ने बताया।
मानव कंकाल यह कहके झुँझलाया ॥ ४ ॥
"निराला के दिल में घाव नहीं।
भाषा है अच्छी मगर भाव नहीं" ॥ ५ ॥

निरालाजी के 'दिल में घाव नहीं', यह उनकी अन्य रचनाओं की उपस्थिति में नहीं कहा जा सकता। वह अत्यन्त भावुक कवि हैं। वास्तव में यह रचना देखकर हमको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। प्रतीत यह हुआ कि यह रचना 'गीतिका' और 'जुही की कली' के कवि की नहीं है। भाषा और भाव की दृष्टि से, ध्वनि-शक्ति एवं काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से 'जुही की कली' अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। इधर उस पर जो समालोचना हुई हैं वह कुछ धुँधली दृष्टि से की गई हैं। निरालाजी ने हिन्दी में एक अद्वितीय स्थान बना लिया है और काव्य-प्रतिभा की झलक जो उनकी कई एक रचनाओं में मिलती है वैसी हिन्दी तो क्या, अन्य साहित्यों में भी कम मिलती है। सम्भव है 'बंगदर्शन' के समय वे स्वस्थ न होंगे और संपादक का 'इसरार' बराबर कुछ न कुछ लिखकर

पीछा छुड़ाने के लिए प्रेरित कर रहा होगा। इसीलिए जल्दी में लिखकर यह कविता भेज दी गई होगी।

× × ×

श्रीयुत् इलाचन्द्रजी जोशी का 'प्रश्न' भी भाषा और भाव सम्बन्धी विकट प्रश्न बना हुआ है? किसी प्राचीन 'नृत्य' को नया जामा पहना कर, 'बंगाल एडीशन' के उपयुक्त बना कर 'प्रश्न' का रूप दिया गया प्रतीत होता है! भैरव का ताण्डव नृत्य इसका मुख्य विषय है। वास्तविक स्थिति पर तो केवल निम्न-लिखित दो ही छन्द हैं:—

नहीं शक्ति जीने की उनमें नहीं चाह मरने की,
ज्ञानहीन पशु सम चिन्ता है क्षुधा शान्त करने की;
उनके दुर्बल, भीरु हृदय को कैसे सबल बनाऊँ?
मस्तक ऊँचा करने का क्या जीवन-मंत्र सुनाऊँ?

ये दोनों अन्तिम छन्द हैं। प्रथम तो ठीक ही है। उसके विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अन्तिम छन्द में प्रश्न यह होना चाहिए था कि उन भूखे, दुबले कंकालों को कहाँ से अन्न या रोटी लाकर और खिलाकर किस तरह सबल बनाऊँ? 'दुर्बल, 'भीरु हृदय' को सबल बनाने का प्रश्न भूखे बंगाल में किस प्रकार न्यायोचित कहा जा सकता है? और मस्तक ऊँचा करने के लिए क्या जीवन-मंत्र सुनाया जाय? यह प्रश्न भी अनावश्यक एवं असंगत है। वस्तुस्थिति से दूर, ऐसे प्रश्न अनर्गल ही कहे जावेंगे। वीर गाथाएँ सुना-सुनाकर और प्राणायाम के अभ्यास द्वारा खड़े होकर भीरु हृदय सबल हो जाते हैं और आत्म-सम्मान की शिक्षा या ऊपर देखते हुए तपस्या करना मस्तक ऊँचा करने की सरल विधि है। इनके विषय में प्रश्न करना ही व्यर्थ था।

बाकी पाँच छन्द भैरव के ताण्डव नृत्य से सम्बन्ध रखते हैं न कि बंगाल से या बंगाल के अकाल से।

यह ताण्डव नृत्य भी छायावाद से घिरा हुआ है।

नाचो! नाचो! भैरव!
निखिल नियम के रोम-रोम में जगे
व्योममय ताण्डव!

आकाशमय ताण्डव विश्वनियम के रोम-रोम में जग उठे। नियम का "रोम-रोम" होता होगा! व्यञ्जनावाद यही तो है!!

कवि कहता है 'व्योममय ताण्डव' ही रोम-रोम में जगे—'व्योम-हीन ताण्डव' जग जायगा तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा!

इस प्रकार दो ताण्डव निर्दिष्ट किए गए हैं—एक व्योम-मय और दूसरा व्योम-हीन!! बङ्गाल के अकाल के समय व्योम-मय ताण्डव जगा था! और भीषण संग्राम में भीषण नरसंहार के समय शायद व्योम-हीन ताण्डव जगा करता है!!

आगे लिखा है:—

गर्जित होओ सुदृढ़ वज्र सम मेरे नग्न हृदय में,
हँसो ठठाकर अट्टहास से तुङ्ग तुषारालय में।

कहकहा मारकर हँसने को शायद 'ठठाकर हँसना' कहते होंगे। शुद्ध है या नहीं, हम नहीं कह सकते। अगर शुद्ध है तो फिर 'अट्टहास' का दुबारा प्रयोग कैसा? या पुनरुक्ति भी व्यञ्जनावाद का ही कोई दूसरा रूप है!! और नग्न हृदय कैसा? क्या बिना कपड़े से ढके हृदय को 'नग्न हृदय' कहते हैं?

यह भी कहावत है कि "नंगे से ख़ुदा ही डरता है"; शायद शायद ऐसे नंगे के हृदय को 'नग्न हृदय' कहते हों!!

उपर्युक्त दो प्रकार के 'नग्न हृदय' में कवि का तात्पर्य किससे है, यह कवि महोदय ही बतला सकते हैं।

कवि कहता है कि ऐसे मेरे नग्न हृदय में, सुदृढ़ वज्र के समान, हे भैरव ! तुम गर्जित होओ। वज्र शायद गर्जता होगा !! गरजना एक बात है, कड़कना दूसरी बात है। कवि का आशय है कि बिजली तो चमकती है और सुदृढ़ वज्र, बादलों की तरह, गर्जता है। अगर वज्र सुदृढ़ नहीं है तो अच्छी तरह नहीं गर्ज सकता। सुदृढ़ वज्र की गर्जना हम लोग नहीं सुन सकते। केवल छायावादी ही सुन सकते हैं। और; "गरजो" या "गर्जित होओ" ? कवि कहता है कि हे भैरव ! तुम गर्जो नहीं—केवल 'गर्जित होओ'। अगर गरजोगे तो बादलों की तरह पानी भी बरसाना पड़ेगा—क्योंकि कोई कह उठेगा "गरज गरज घन बरसो"। परन्तु यहाँ तो बादल नहीं है—नग्न हृदय में सुदृढ़ वज्र है जो गरजता नहीं—केवल "गर्जित होना" है। इसलिए पानी बरसाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता !! यहाँ तो सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करके, पृथ्वी से बहुत दूर, ऊँचा उड़कर, आकाश के कल्पना-क्षेत्रों में विचरण कर, कोरी गर्जनामात्र से तात्पर्य है। असहाय, निरुपाय, निष्प्राण बंगाल के कंगाल-कंकाल के प्रति सहानुभूति के दो आँसू भी छलकाने से प्रयोजन नहीं !!

वास्तव में, विद्वद्वर पंडित इलाचन्द्रजी का 'प्रश्न' ही सही नहीं था। वस्तुस्थिति को दृष्टिगत रखकर निम्नलिखित कविता और प्रश्न ही यहाँ पर समीचीन प्रतीत होते हैं—

प्रश्न

कल्पित वज्र उठाकर मारा,
कवि ने भग्न हृदय में !
पर-दुख-पीड़ा त्याग, उड़ा फिर,
तुङ्ग तुषारालय में !!
नहीं शक्ति भू पर आकर, कुछ
मानव-हित करने की ।

एक मात्र चिन्ता है सूने नभ में
उड़ चलने की ।।
स्वप्निल कवि के निर्जल-हिय को
कैसे सजल बनाऊँ ?
किस विधि, उसमें, करुणा-कण की,
दो बूँदें ढलकाऊँ ?

(२)

कविवर निराला जी और पंडित इलाचन्द्रजी जोशी की कविता के मुक़ाबिले में 'मानव-जीवन की रेख' शीर्षक डाक्टर रामकुमारजी वर्मा की कविता अधिक समीचीन और अधिक सुन्दर साँचे में ढाली गई है। नवीन विचारों का भी ज्ञान होता है। अवश्य ही जहाँ-जहाँ छायावाद की तह के नीचे उनके विचार दब गए हैं वहाँ वह रोचकता नहीं रही। कहीं-कहीं विचार अत्यन्त धूमिल हो जाने के कारण दिल ऊब भी जाता है। परन्तु तो भी प्रथम और अन्तिम आठवें छन्द में जिस 'जीवन की रेखा' के प्रति इंगित किया गया है वह हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती। छन्द-विन्यास भी अच्छा है। प्रथम छन्द यह है:—

मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर में सुख के लेख—
साहस के ये लेख—लिखे हैं किसने ? जिनको देख
रवि की किरणें अपने उज्ज्वल रँग में भाव-विभोर
आ जाती हैं नभ से इस गीली मिट्टी की ओर।
रँगती हैं वे अपने रँग से यह जीवन की रेख
और चमक उठते हैं मिट्टी के मस्तक के लेख।

ज़मीन में अंकुरों का उपज आना अत्यन्त आशाप्रद हुआ करता है। हरे लॉन (Lawn) के देखते-देखते यदि कवि के ऐसे भाव हो जायँ तो आश्चर्य की बात नहीं है। आशावादी हमेशा

हरियाली देख कर अच्छे समय की कल्पना करता रहता है। उसकी दृष्टि में दूसरे रंग की वस्तुओं की सार्थकता नहीं रहती। वह सुगमता से यह भी भूल जाना चाहता है कि संसार में हरा-भरा कम है, रूखे ठूँठ अधिक हैं और रवि की किरणें तो समता भाव से सभी ओर आती-जाती बनी रहती हैं; और सभी को अपने रंग से रंगने का प्रयत्न भी करती होंगी। परन्तु, किसी कारण से, अंकुर ही प्रकाश पाकर बढ़ते हैं; और रूखे ठूँठ, सिंचन के अभाव में, सूर्य के ताप से, झुलस जाते हैं।

आशावादी यदि यथार्थवादी होता और वास्तविकता ही देखता तो ऊपर लिखे हुए छन्द को बदल कर इस प्रकार लिख देता:—

मिट्टी के मस्तक पर हैं तो सब प्रकार के लेख!
हर्षित, ललित, अरु, रंग-बिरंगे,—इनको ही क्यों देख,
कवि का हृदय उमड़ पड़ता है, होकर भाव-विभोर?
काले, पीले, फीके, धूमिल,—बिखरे चारों ओर!!
सतरंगी किरणों से रवि रँगता है जीवन-रेख!
और, प्रकाशित करता जग में, सब प्रकार के लेख!!

आशावादी कवि कुछ-कुछ आदर्शवादी भी होता है। वह सर्वांगीण न होकर एक पक्ष ग्रहण करके चल देता है। वह यह भी भूल जाना चाहता है कि किसी की दृष्टि में 'हरा रंग' 'खूनी' भी बन जाता है।

"ख़ूनी होते हैं जगत के सब्ज़ रंग
यह दुहाई दे रही है मेहदी"

वह यह भी भूल जाना चाहता है कि जो वस्तु हरी हो जाती है वह एक दिन मुरझाती भी है—नाश भी उसी का अत्यन्त करुणामय होता है। 'हिमकिरीटिनी' में इसी विषय पर एक बड़ी अच्छी रचना है:—

"है मधुर कितना, कि भू में,
अंकुरों का उपज आना
मोर-पंखों सा, कि पल्लव—
रूप का बाना सजाना,
× ×
एक दिन जो फेंक देना है—
कि मधुर दुलार क्यों है?
कुचलने के बाद, हाहाकार
का शृङ्गार क्यों है?
× ×
नाश का ही खेल है—तो
यह पहेली ज़रा खोलो,
हर अमरतम नाश पर,
झट ऊगने की साध क्यों है?"

भाव में यह पद्य बहुत अच्छा है। डाक्टर रामकुमारजी ने एक नई दृष्टि से 'हरितांकुर' को देखा है और उनकी दृष्टि 'एक पक्षीय' है। उनका विचार है कि 'भस्म' में 'अंगार' जागृत रहता है; एक फूँक से चिनगारी आग हो सकती है और जीवन के 'लघु क्षण' में भी उत्साह फिर से जाग उठता है, इसीलिए वे समझते हैं कि ललित कला की बंगभूमि भी अपना उद्धार अपने आप ही खोज लेगी; क्योंकि इतनी दयनीय दशा के बाद भी उत्साह जगने की आशा उनको 'हरितांकुर' से ही होती है। आठवाँ (अन्तिम) छन्द इसी बात का समर्थन करता है:—

मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर में सुख के लेख
बार-बार कहते हैं—हम तो पृथ्वी का तम देख,
बढ़ते ही जाते हैं अपने प्रिय प्रकाश की ओर
चाहे आँधी या वर्षा की बूँदें दें झकझोर।

मानव के जीवन में ऐसी ही बन जाए रेख,
जैसे मिट्टी के मस्तक पर, हरितांकुर के लेख।

भाव अच्छा होते हुए भी, यहाँ पर गम्भीर विचार का एक दम अभाव है। सिंचन की आवश्यकता हरितांकुर के लिए होती है। बिना जल के बढ़ना असम्भव है और प्रकाश का ओर कहाँ तक इस अभाव में बढ़ा जा सकता है. यह सुगमता से सोचा जा सकता है !! 'हरितांकुर' के लिए 'वर्षा की बूँदें' बाधक न होकर साधक हुआ करती हैं। वर्षा की बूँदों के स्थान में 'तूफ़ान का मेह' या 'बड़ा भारी मेह' होता तो भी ग़नीमत होती। परन्तु बढ़ते जाने का साधन भी तो इंगित कर देना था? क्या सूर्य का ताप, सिंचन के अभाव में, झुलसा नहीं डालेगा?

यहाँ यह विवाद उठाना उचित प्रतीत नहीं होता कि 'अंकुर' की परिभाषा क्या है और उसका 'रंग' कैसा होता है? और यह कि 'हरित' रंग होते ही क्या वह 'अंकुर' ही बना रहता है?

परन्तु यह स्पष्ट है कि जो बात प्रोफ़ेसर साहब कहना चाहते हैं वह साफ़-साफ़ इस छन्द में वे कह नहीं सके। भाव व्यक्त करने के लिए भाषा उनका साथ नहीं दे रही।

जो बात प्रोफ़ेसर साहब प्रयत्न करने पर भी नहीं कह सकते वही बात सन् १६३२ में 'एक भारतीय आत्मा' ने बड़ी सुगमता से कह डाली थी। नीचे का पद्य अधिक सुस्पष्ट है और अधिक स्वाभाविक, हृदयग्राही एवं सुन्दर है—

"काली मिट्टी, पीली मिट्टी, मिट्टी हो यदि लाल;
अपने आकर्षण में हमको, कितना रखे सँभाल!
उस पर, पद रख, घन वर्षण में, पा प्रभु का सन्देश?
कर ऊँचा सिर हम उठ देते, नभदिशि को तत्काल!
मिट्टी के तह फटते जाते, हम हैं डटते जाते
विद्रोही हैं—जो उठते हैं, वे ही हैं हरियाते!"

\+ \+ \+

इस पद्य के मुक़ाबिले में 'हरितांकुर के लेख' अधिक धूमिल और कुहरे से आच्छादित प्रतीत होते हैं।

प्रोफ़ेसर साहब का पद्य हमने कई बार पढ़ा है। कई स्थल पर अत्यन्त सुन्दर भाव उसमें आ गए हैं और कहीं-कहीं अत्यन्त नीरस भाव, अस्पष्ट, एवं अशुद्ध भाषा उसी भाव के पीछे चले आते कविता को ऊबड़-खाबड़ सा बना देते हैं।

प्रथम छन्द में रोचक भाषा के साथ-साथ नूतन भाव दिखाई देता है। पद्य पढ़ने की इच्छा होती है। परन्तु द्वितीय छन्द रोचक नहीं है। छायावादी या अस्पष्ट भाव से आच्छादित है। तृतीय छन्द में चार चरण बहुत ही रोचक और बीच के दो चरण अत्यन्त साधारण हैं। ये दोनों छन्द यहाँ उद्धृत किए जाते हैं:—

पर मानव के प्राणों पर यह कैसी मृण्मय कोर!
जिसमें केवल ज्वाला है, ज्वाला है चारों ओर।
एक यन्त्रणा पागल सी रखती है कितने रूप!
वहाँ यहाँ चलती-फिरती सी है वर्षा की धूप।
कभी वेदना की विद्युत, आँसू की कभी हिलोर
ऐसी है यह मानव के प्राणों पर, मृण्मय कोर।

मानव के भीतर दानव की यह कैसी तस्वीर?
बिजली सी चुभकर बैठी है, जलद-हृदय का चीर,
आत्मा के ऊपर बैठा है भूखा एक शरीर,
हृदय प्रेम से नहीं भूख से होता आज अधीर,
विश्वम्भरा प्रकृति, तेरी आँखों में कितना नीर!
जिससे धुल कर हो पवित्र मानव की यह तस्वीर।

मिट्टी में 'हरितांकुर' के जीवन की, मानव के प्राणों पर मिट्टी की 'कोर' से तुलना की गई है। इस मानव प्राण में 'मृण्मय कोर' है जिस 'कोर' में ज्वाला ही ज्वाला चारों ओर है!! वास्तव में,

समझना अत्यन्त कठिन है !! प्राण के किस तरफ़ यह 'कोर' है ? यदि यह इशारा किया होता तो कठिनाई न होती। यह भी पता नहीं चलता कि 'प्राण' में 'यन्त्रणा' है; या 'मृण्मय कोर' में यन्त्रणा है, या 'ज्वाला' में; या 'ज्वाला', 'यन्त्रणा' और 'मृण्मय कोर' एक ही हो गए हैं !!!

यह 'यंत्रणा' पागल क्यों हुई ? या केवल 'पागल सी' प्रतीत होती है ? या पागल मनुष्य कितने ही रूप रख लेने वाला माना गया है ? यह यंत्रणा वर्षा-ऋतु की धूप की तरह यहाँ-वहाँ 'चलती-फिरती सी' भी दिखाई देती होगी ! यानी 'यंत्रणा' पागल सी ही नहीं वर्षा की धूप की तरह भी यहाँ-वहाँ—सब जगह—चल रही मालूम देती है !! अगर Neuralgic Pain (नर्सों का दर्द) होता तो कहा भी जाता कि इतने बड़े शरीर में यकायक कभी किसी हिस्से में, कभी किसी हिस्से में पीड़ा हो उठती है। परन्तु छोटे से प्राण की और भी छोटी सी 'मृण्मय कोर' में पागल सी, या वर्षा की धूप की तरह, इधर-उधर भटकने को स्थान ही कितना रहा होगा ?

पन्त जी ने एक जगह लिखा था—

"प्राण ! तुम लघु-लघु गात"

परन्तु यहाँ तो प्राण की 'मृण्मय कोर' को ही 'स्तूपाकार' मानकर कविवर चल पड़े हैं। प्रतीकों से सहारा लेने के हम विरोधी नहीं हैं परन्तु यह प्रतीक भी विषय के अनुसार होने चाहिए और उनमें मूल वस्तु की किसी स्थिति विशेष का साम्य होना आवश्यक है। खैर; यह यंत्रणा या तो आँसू की हिलोर के रूप में दिखाई देती है या वेदना की बिजली की तरह। दो ही रूप बताए गये हैं !! केवल दो रूप से ही वर्षा की धूप और यहाँ वहाँ चलती-सी का

होती है ? या पागल मनुष्य कितने ही रूप रख लेने वाला माना गया है ? यह यंत्रणा वर्षा-ऋतु की धूप की तरह यहाँ-वहाँ

था, भाषा उसे उस तरह मूर्तिवती न बना सकी। भाषा एवं भाव अलग-अलग चल रहे हैं।

तीसरे छन्द के प्रथम दो चरण और अन्तिम दो चरण बहुत सुन्दर हैं। उनको फिर उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते:—

मानव के भीतर दानव की यह कैसी तस्वीर?
बिजली सी चुभ कर बैठी है, जलद हृदय को चीर!
+ + + +
विश्वम्भरा प्रकृति, तेरी आँखों में कितना नीर!
जिससे धुलकर हो पवित्र, मानव की यह तस्वीर।

प्रकृति का यह चेतन व्यक्तित्व अत्यन्त सफल हुआ है। "वेदना की विद्युत" और "बिजली सी चुभ कर बैठी है" में दोनों बिजली अलग-अलग हैं। परन्तु दोनों छन्दों को साथ-साथ पढ़ने पर प्रतीत होता है कि 'यंत्रणा' ही दानव की तस्वीर बनकर जलद-हृदय को चीर कर उसके नीचे विद्युत सी बन बैठी है और हृदय के नीचे यही 'मृण्मय कोर' है!! कवि का आशय अवश्य ऐसा नहीं है।

कुछ भी हो, इन चार चरणों में भाषा और भाव—दोनों का सौंदर्य है। परन्तु, बीच में दो चरणों में न भाषा ही है न भाव ही है। शरीर के अन्दर आत्मा रहती है—ऐसा ही माना जाता है। परन्तु यहाँ कवि की वाणी है कि "एक भूखा शरीर आत्मा के ऊपर बैठा है"। प्रतीत ऐसा होता है कि रास्ते में कोई आत्मा-रूपी पत्थर रखा हो जिस पर थका हुआ मानव-कंकाल बैठ गया हो। इसके अनन्तर 'प्रेम' और 'भूख' से हृदय अधीर होना और उनमें भेद बताना असंगत है। दानव की तस्वीर में प्रेम से अधीर हृदय का जिकर करना ही व्यर्थ एवं अनावश्यक था। इन दोनों चरणों ने छन्द में जो सौंदर्य था बहुत कम कर दिया है।

उसके बाद दो छन्दों में वास्तविक बंगाल की दशा का वर्णन

है और कवि अन्त में कहता है कि "ललित कला की भूमि अपना उद्धार स्वयं खोज लेगी"। कैसे ? इसका उत्तर बड़े अच्छे शब्दों में दिया है:—

जीवन में हो नवोन्मेष, उत्साह उठे फिर जाग
एक फूँक से फिर चिनगारी हो सकती है आग,
हृदय-स्पन्दन स्वस्थ, साँस हो सजग, प्राण द्युतिमान
फूल एक हो किन्तु उसी में छाया हो उद्यान।
त्याग छिपाए हो उर की प्राची का मृदु अनुराग।
जीवन के लघु क्षण में भी उत्साह उठे फिर जाग।

यह है उज्ज्वल पृष्ठ जहाँ जीवन का नवनिर्माण—
छोटा सा निर्माण, जहाँ रेखा से हैं लघु प्राण।
इतने लघु प्राणों में भी साहस का पारावार—
जाग रहा है जिसमें लहरें ही बन कर पतवार
ले जाती है जीवन की सीमा के भी उस पार—
जीवन का यह पृष्ठ न लौटे कभी दूसरी बार।

यह दूसरा छन्द भी सुन्दर भाव से ओत-प्रोत है। छोटी रेखा से लघु प्राण में साहस के अपार सागर का व्यक्तित्व आरोप करना छायावाद—न्याय के अनुसार सही हो सकता होगा !!! परन्तु भाव उस प्रकार धूमिल नहीं होने पाया जिस प्रकार यह कहना कि हृदय-स्पंदन स्वस्थ हो, साँस सजग हो, प्राण द्युतिमान हों परन्तु एक ही फूल हो जिसमें फूल की छाया ही उद्यान बन जावे। और उर की प्राची का मृदु अनुराग त्याग को छिपाए हुए हो। क्या यह भाव इस कविता से अलग नहीं रखे जा सकते थे ? क्या धूमिल भाव हर छन्द में हर मौक़े पर भर देना ही समीचीन है ? अवश्य; साहित्य में छायावादी कविता का भी स्थान है; परन्तु प्रगतिवादी और छायावादी काव्य का उल्टा-सीधा सम्मिश्रण हित

कर तो नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि ये शब्द अनावश्यक तौर पर ज़बरदस्ती ठूँसे गए हैं; जिनसे, छायावाद का अस्तित्व भले ही स्वीकार किया जा सकता है परन्तु प्रसाद गुण के साथ-साथ काव्य का माधुर्य लोप हो जाता है। काव्य में भावुकता और सरसता नहीं रहने पाती। पाठक को, अपने मस्तिष्क को अत्यन्त कष्ट देकर यह समझने का प्रयत्न करना पड़ता है कि 'छाया' का 'उद्यान' और 'उर की' 'प्राची' का 'अनुराग' कैसा होता होगा? लघु प्राणों में साहस का समुद्र कैसे जाग रहा होगा? और यदि साहस 'समुद्र' है तो 'लहरें' किस भावना या भाव की बनाई गई होंगी? और वे लहरें ही 'पतवार' कैसे बन गई होंगी और वे लहरें जीवन की सीमा के उस पार (?) किसको ले जाती होंगी? क्या यह ससीम और असीम का मिलन है? या भौतिक जीवन का नव निर्माण है?

अब, आठ छन्दों में केवल दो छन्द बंगाल के अकाल के वास्तविक चित्रण से सम्बन्ध रखते हैं उनमें एक अच्छा है और एक अत्यन्त साधारण। यह दोनों छन्द भी पढ़ने योग्य हैं:—

जाग रहे हैं प्राण, किन्तु यह देह बनी कंकाल
आशा, आशा, आशा, केवल आशा ही का जाल।
माँ के आँखों के वसन्त में घिरता वर्षा काल।
जहाँ मृत्यु-घन में खो जाते इन्द्रधनुष से लाल!
यह है अपना देश, यही है अपना प्रिय बंगाल
जाग रहे हैं जहाँ प्राण, पर देह बनी कंकाल!
ललित कला की भूमि, भूख की भूमि बने इस बार?
कवि रवीन्द्र की दिव्य साधना का हो यह आभार?
मानवता का मानव के हाथों से यह सत्कार?
क्रय-विक्रय के काँटों पर हो रूप और शृंगार?
किन्तु भस्म में भी जाग्रत है कहीं-कहीं अंगार;
ललित कला की भूमि खोज लेगी अपना उद्धार!

दूसरा छन्द वस्तुस्थिति-चित्रण के साथ-साथ भाव भी अच्छे प्रदर्शित करता है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु दोनों छन्द एक दूसरे से इतने अधिक मिले हुए हैं कि एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। और पहिले छन्द के प्रारम्भ में ही भाषा और भाव बिगड़ चुके हैं। "आशा, आशा, आशा, केवल आशा का ही जाल" इस चरण में "आशा" शब्द का अनावश्यक चार बार प्रयोग करके न तो छन्द में कोई चमत्कार ही आ पाया है और न भाव ही ठीक तौर से व्यक्त हो पाए हैं। इसको पढ़कर काव्य में नीरसता का आभास मिलता है और प्रसिद्ध कवि के शब्द-भण्डार पर संदेह भी होने लगता है। भूखे कंकाल पूरे आशावादी अन्तिम समय तक, रहे होंगे; ऐसा सोचा जाना ही असंभव है। जब आशा में बैठे हुए खाना न मिलता होगा तब वे कभी-कभी अत्यन्त निराश हो जाते होंगे। हताश होने पर फिर कुछ न कुछ आशा हृदय में जन्म लेती होगी। फिर निराशा धर दबाती होगी। क्रिया के बाद उतने ही वेग से प्रतिक्रिया का होना प्राकृतिक नियम है। आशा के बाद निराशा और फिर आशा, फिर निराशा—इस प्रकार बारी-बार से एक के बाद दूसरे के झोंके आना स्वाभाविक है। जितने वेग से आशा का भाव आता होगा—उतने ही वेग से निराशा घेर लेती होगी। जितने वेग से निराशा का भाव धर दबाता होगा उतने ही वेग से फिर प्रत्याशा आकर घेर लेती होगी। अवश्य आशा की प्रबलता के कारण ही वह इतने दिनों, भूखे रह कर भी जीवि रहे होंगे। पर चार बार 'आशा' शब्द लाने के कारण एक सीध सादा स्वाभाविक चित्र भी व्यक्त नहीं हो पाया !!

इसके अनन्तर, एक दूर के क्षितिज में उड़ता हुआ अप्राकृति एवं अस्वाभाविक चित्र कल्पना करके काव्य में अनावश्यक तौ पर खींचकर दिखलाया गया है। यह माँ की बँधी आशा ठुकराकर उसके बच्चे का मृत्यु से छीना जाना है जिसकी बस

और वर्षाकाल के मेल से समता दी गई है !! सीधी-सादी भाषा में यदि यही चित्र उपस्थित किया जाता तो कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होता। परन्तु चित्त में तो महाकवि देव का—"रहु रे बसन्त, तोहि पावस करति हो"—बसा हुआ है; और ऊपरी इच्छा केवल छायावादी छाप दिखाने की है। इन दोनों के बीच, भाव और भाषा दोनों बिगड़ गए । 'आशावादी आँख' में वसन्त का आरोप करने पर भ पुत्र की मृत्यु हो जाने पर वही आशा कहाँ बनी रह सकती है ? वह तो हताशा के द्वारा शोक में परिणत हो चुकी है। वसन्त के अनन्तर पतझड़ आ चुका है !! वसन्त में वर्षा कहाँ ? बसन्त समाप्ति के अनन्तर कुछ भी कहा जाय। यदि आँसुओं में ही वर्षा का आरोप किया जावे—आँसुओं में वर्षा की मूर्ति आरोपित भी की जावे—तो, आँसुओं के पास आँख के अन्दर ही बादल और इन्द्र-धनुप को भी खोज निकालना पड़ेगा। मृत्यु को बादल और लड़के को इन्द्रधनुष को मान कर चलना, किसी भी साहित्यिक कसौटी से असंगत और अशुद्ध ही माना जायगा। वास्तव में, यहाँ काव्य-रस में अनौचित्य का विष-सा प्रतीत होता है।

खैर; सारी कविता पढ़ लेने के बाद, 'मानव-जीवन की रेख' शीर्षक पद्य अच्छा ही बताना पड़ेगा। उसकी तान इतनी सुरीली है, राग इतना मधुर है, छन्द इतना सुन्दर है और कहीं-कहीं भाव इतने सुन्दर हो गए हैं कि उसको बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। परन्तु जहाँ पर सौंदर्य है और रोचकता बढ़ी है, वहीं—उसी के अनन्तर ही—ऐसी नीरस भाषा अथवा असंगत भाव आ जाते हैं जिनसे अत्यन्त निराशा होती है। ऐसे स्थल बार-बार ललित कला बंगाल भूमि रूपी काव्य में कंकाल से दिखाई देते है। जहाँ यह आशा होती है कि रोचकता बढ़ती चलेगी क्योंकि कवि अपनी कविता में जीवन-रस संचारित कर रहा है वहीं पर भास होता है कि कविता को 'नज़र' लग गई और एक दम हताश हो जाना

दूसरा छन्द वस्तुस्थिति-चित्रण के साथ-साथ भाव भी अच्छे प्रदर्शित करता है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु दोनों छन्द एक दूसरे से इतने अधिक मिले हुए हैं कि एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। और पहिले छन्द के प्रारम्भ में ही भाषा और भाव बिगड़ चुके हैं। "आशा, आशा, आशा, केवल आशा का ही जाल" इस चरण में "आशा" शब्द का अनावश्यक चार बार प्रयोग करके न तो छन्द में कोई चमत्कार ही आ पाया है और न भाव ही ठीक तौर से व्यक्त हो पाए हैं। इसको पढ़कर काव्य में नीरसता का आभास मिलता है और प्रसिद्ध कवि के शब्द-भण्डार पर संदेह भी होने लगता है। भूखे कंकाल पूरे आशावादी अन्तिम समय तक, रहे होंगे; ऐसा सोचा जाना ही असंभव है। जब आशा में बैठे हुए खाना न मिलता होगा तब वे कभी-कभी अत्यन्त निराश हो जाते होंगे। हताश होने पर फिर कुछ न कुछ आशा हृदय में जन्म लेती होगी। फिर निराशा धर दबाती होगी। क्रिया के बाद उतने ही वेग से प्रतिक्रिया का होना प्राकृतिक नियम है। आशा के बाद निराशा और फिर आशा, फिर निराशा—इस प्रकार बारी-बारी से एक के बाद दूसरे के झोंके आना स्वाभाविक है। जितने वेग से आशा का भाव आता होगा—उतने ही वेग से निराशा घेर लेती होगी। जितने वेग से निराशा का भाव धर दबाता होगा उतने ही वेग से फिर प्रत्याशा आकर घेर लेती होगी। अवश्य आशा की प्रबलता के कारण ही वह इतने दिनों, भूखे रह कर भी जीवित रहे होंगे। पर चार बार 'आशा' शब्द लाने के कारण एक सीधा-सादा स्वाभाविक चित्र भी व्यक्त नहीं हो पाया !!

इसके अनन्तर, एक दूर के क्षितिज में उड़ता हुआ अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक चित्र कल्पना करके काव्य में अनावश्यक तौर पर खींचकर दिखलाया गया है। यह माँ की बँधी आशा को ठुकराकर उसके बच्चे का मृत्यु से छीना जाना है जिसकी बसन्त

और वर्षाकाल के मेल से समता दी गई है !! सीधी-सादी भाषा में यदि यही चित्र उपस्थित किया जाता तो कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होता। परन्तु चित्त में तो महाकवि देव का—"रहु रे बसन्त, तोहि पावस करति हो"—बसा हुआ है; और ऊपरी इच्छा केवल छायावादी छाप दिखाने की है। इन दोनों के बीच, भाव और भाषा दोनों बिगड़ गए। 'आशावादी आँख' में वसन्त का आरोप करने पर भ पुत्र की मृत्यु हो जाने पर वही आशा कहाँ बनी रह सकती है ? वह तो हताशा के द्वारा शोक में परिणत हो चुकी है। वसन्त के अनन्तर पतझड़ आ चुका है !! वसन्त में वर्षा कहाँ ? बसन्त समाप्ति के अनन्तर कुछ भी कहा जाय। यदि आँसुओं में ही वर्षा का आरोप किया जावे—आँसुओं में वर्षा की मूर्ति आरोपित भी की जावे—तो, आँसुओं के पास आँख के अन्दर ही बादल और इन्द्र-धनुष को भी खोज निकालना पड़ेगा। मृत्यु को बादल और लड़के को इन्द्रधनुष को मानकर चलना, किसी भी साहित्यिक कसौटी से असंगत और अशुद्ध ही माना जायगा। वास्तव में, यहाँ काव्य-रस में अनौचित्य का विष-सा प्रतीत होता है।

खैर; सारी कविता पढ़ लेने के बाद, 'मानव-जीवन की रेख' शीर्षक पद्य अच्छा ही बताना पड़ेगा। उसकी तान इतनी सुरीली है, राग इतना मधुर है, छन्द इतना सुन्दर है और कहीं-कहीं भाव इतने सुन्दर हो गए हैं कि उसको बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। परन्तु जहाँ पर सौंदर्य है और रोचकता बढ़ी है, वहीं—उसी के अनन्तर ही—ऐसी नीरस भाषा अथवा असंगत भाव आ जाते हैं जिनसे अत्यन्त निराशा होती है। ऐसे स्थल बार-बार ललित कला बंगाल भूमि रूपी काव्य में कंकाल से दिखाई देते है। जहाँ यह आशा होती है कि रोचकता बढ़ती चलेगी क्योंकि कवि अपनी कविता में जीवन-रस संचारित कर रहा है वहीं पर भास होता है कि कविता को 'नज़र' लग गई और एक दम हताश हो जाना

पड़ता है। आशा और निराशा के एक के बाद दूसरे का, सिल-सिलेवार, भाव आते रहने पर यही प्रतीत होता है कि वास्तव में यह कविता ही बंग-भूमि बनी हुई है। अवश्य; ललित कला का भाग इसमें अधिक है; कंकाल का अंश कम। इस दृष्टि से, यदि किसी व्यक्ति के द्वारा निम्नलिखित पद्य, इस कविता पर लिखा गया हो, तो, न तो वह अत्युक्ति समझा जाना चाहिए और न अनुचित ही :—

बड़ा मधुर है गान,
किन्तु यह काव्य बना बंगाल;
आशा और निराशा, प्रत्याशा, का भाषा-जाल !!
कविता के वसन्त पर, कवि ने लादा वर्षा काल !!
छाया-घन के नीचे दबकर कोकिल है बेहाल !!!
है यह नव-साहित्य ? या, यही साहित्यिक जंजाल ?
बड़ा मधुर है गान, किन्तु यह काव्य बना बंगाल !!!

(३)

शब्द 'दर्शन' का साधारण अर्थ है 'देखना', 'अवलोकन करना'. 'किसी से साक्षात्कार करना'। असाधारण अर्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी सूचित होता है। 'बंग-दर्शन' की अन्य कविताएँ पढ़कर तो यही प्रतीत हुआ था कि बगाल के अकाल के तात्कालिक चित्रण से ही पुस्तक सम्बन्धित है; परन्तु जब सहसा 'बंग-वंदना' पर दृष्टि पड़ी तो ऐसा जान पड़ा कि जैसे योग, मीमांसा, सांख्य और वैशेषिक दर्शन हों—शायद उसी प्रकार कोई 'बंग-दर्शन' भी हो !! प्रारम्भ में अथर्व वेद के पुरुष-सूक्त से 'भू-वदना' का पद्यानुवाद भी दिया गया है और अन्त में 'बंग-वंदना' है। 'बंग-वंदना' में साफ़ तौर से तो किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन समझ में नहीं आता। अवश्य स्थान-स्थान पर 'दर्शन' शब्द के दोनों अर्थों का सम्मिश्रण भली भाँति दिखलाई पड़ता है।

'बंग-वन्दना' श्रीमती महादेवी जी वर्मा की रचना है। श्रीमती जी हिन्दी साहित्य की एक विभूति हैं। 'यामा' में संगृहीत रचनाओं की प्रशंसा हम अपने 'वीणा' में प्रकाशित लेखों में कर चुके हैं। श्री महादेवी जी की 'दीपशिखा' ने उनकी कीर्त्ति और भी उज्ज्वल की है। चित्रकार, कलाकार और काव्यकार की श्रेष्ठ प्रतिभा का दिग्दर्शन हमको 'दीपशिखा' में मिलता है। कई गीत इतनी उच्च कोटि के हैं कि यदि उनका अनुवाद फ्रेंच या अन्य सरस यूरोपीय भाषा में कराकर चित्रों के साथ पुस्तक प्रकाशित की जावे तो संसार-साहित्य में उनका बहुत ऊँचा स्थान सुगमता से माना जा सकेगा।

'बंग-दर्शन' के विषय में, एक साधारण पाठक की हैसियत से, हम क्षमा याचना करके, केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ 'यामा' और 'दीपशिखा' अच्छी तरह समझ में आ जाती हैं वहाँ 'बंग-वन्दना' की न तो कविता ही समझ में आती है और न उसका उद्देश्य ही !!

जहाँ त्राहि-त्राहि मच रही हो, करुण क्रन्दन हो रहा हो—वहाँ प्रथम तो ऐसी वन्दना से क्या लाभ होगा ? और अगर वन्दना करें भी तो परमात्मा की वन्दना करनी उचित होगी। यदि हम सहायता नहीं कर सकते और कोई सम्बन्धिनी सहसा संकट में पड़ गई दिखाई पड़ती हैं तो स्वाभाविक यह होगा कि हम परमात्मा से ही प्रार्थना करेंगे कि "हे दीनानाथ ! अमुक स्त्री संकटों से बुरी तरह घिरी हुई है, सिवाय तेरे अब कोई चारा नहीं है। तेरा ही भरोसा है। हे दीनदयाल ! तू ही अब अमुक स्त्री को संकट से उबार दे !!" परन्तु परमात्मा की वन्दना न करके, उसी संकट-ग्रस्ता की वन्दना करना किंचित् हास्यास्पद होगा। यहाँ हम उसी से कह रहे हैं कि "हे देवी तू आज भिखारिन है। परन्तु हम तेरी सहायता नहीं कर सकते; हम असमर्थ हैं। तेरे लिए हम परमात्मा से भी प्रार्थना नहीं कर सकते; परन्तु हम तो तेरी वन्दना कर रहे

हैं। एक, दो, तीन, दस, सौ और शत-शत वन्दना तू ले ले और अपना पेट भर ले।"

वेदना-प्रधान कवयित्री जी की कविता 'बंग-वन्दना' कुछ-कुछ ऐसी ही है।

श्रीमती जी ने बंगाल को, भारत देश की अमर कविता की मूर्ति मानकर, यह वन्दना की है।

प्रारम्भिक शब्द हैं:—

वंग-भू शत वन्दना ले!
भव्य भारत की अमर कविता हमारी वन्दना ले!

अन्तिम छन्द है:—

ज्ञानगुरु इस देश की कविता हमारी वन्दना ले!
वंग-भू शत वन्दना ले!
स्वर्ण-भू शत वन्दना ले!

बंगाल को भारत की अमर कविता मानकर ही क्यों वन्दना की गई? यह भी समझ में नहीं आता!! क्या वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, शूद्रक, इत्यादि में से कोई बंगाल में जन्मा था? या केवल भारतरत्न 'कवीन्द्र' के कारण ही 'देश की कविता' लिखा गया? यदि यही कारण था तो देश की 'नूतन अमर कविता मानकर वन्दना करना अधिक उपयुक्त रहता।

अब बंगाल को अमर कविता की मूर्ति मान कर वन्दना तो की गई है परन्तु कहीं पर उसे नीलकंठिनी, कहीं जननि, कहीं कहीं विधात्री, कहीं रुद्राणी भी कह दिया गया है और अन्त में ज्ञानगुरु भी बना दिया है। भूख से त्रस्त, मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई कविता देवी किस प्रकार नीलकंठिनी या जननि या विधात्री हो सकती है? फिर, 'ज्ञानगुरु' पुल्लिंग और कविता देवी स्त्रीलिंग है!! एक का मस्तिष्क से, दूसरे का हृदय से सम्बन्ध है॥ अवश्य ही 'ज्ञानगुरु' 'भारत देश' को नहीं माना गया है।

इस बंग-वन्दना में कल्पनाएँ भी नाना प्रकार की गई हैं जो कहीं-कहीं अत्यन्त दुरूह एवं अस्पष्ट हो गई हैं। बंगाल के अकाल के यथार्थ वर्णन का भी कहीं-कहीं प्रयत्न किया गया है परन्तु प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के मनमाने आरोप कर लेने से न छायावादी कविता ही रह पाई है और न यथार्थवादी !!

× × ×

बंग-वन्दना में 'यामा' और 'दीपशिखा' का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कहीं-कहीं शब्द भी वहीं से उठाकर नए जामा में दिखाए गए हैं भाव एवं शब्द साम्य के दो-एक उदाहरण यहाँ अनुचित न होंगे:—

(१) दीपशिखा, गीत संख्या ३७

ढह जाएँगे—ढह जाएँगे
यह ध्वंस कथा दुहराएँगे
\+ + +
गर्जन मृदंग, हरहर मंजीर
\+ + +
घिरते तमनिधि-आवर्त मेघ

गीत संख्या ५

छोड़ उल्का अंक नभ में
ध्वंस आता हरहराता

बंग-वन्दना

तिमिर सागर हरहराता
संतरण कर ध्वंस आता

(२) दीपशिखा, गीत संख्या १६

धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित
तम में सब होंगे अन्तर्हित

गीत संख्या ४१

मोतियों का अर्घ कैसा ?
प्यालियाँ रीती कली की !!

बंग-वन्दना

अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर प्यालियों से

(३) यामा (सांध्यगीत) पृ० २०२

ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार-माला
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला

दीपशिखा, गीत संख्या २४

वर क्षार शेष का माँग रही जो ज्वाला
जिसको छू कर हर स्वप्न बन चला छाला

बंग-वन्दना

अंक में झेला कठिन अभिशाप का अंगार पहिला
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया शृंगार पहिला

\+ + +

आज छाले से जले जो भाव से थे सुभर पोखर

\+ + +

आह तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन बन डोलते हैं ?

(४) यामा (सांध्यगीत, १६८ व २२०)

नयन की नीलम तुला पर मोतियों से प्यार तोला
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला

\+ + +

जग पड़ा हूँ अश्रुधारा
पंख पर वे सजल सपने तोल दो

दीपशिखा, गीत १२

दृगजल पर पाले मैंने
मृदु पलकों पर तोले हैं

बंग-वन्दना

शक्ति की निधि अश्रु के क्या श्वास तेरे तोलते है ?

(५) दीपशिखा, सं० ४३

मेरे साँस में आरोह
उर अवरोह का सञ्चार
प्राणों में रही घिर घूमती
चिर मूर्च्छना सुकुमार

बंग-वंदना

मृत्यु क्रन्दन गीत गाती
हिचकियों की मूर्च्छना ले

(६) दीपशिखा

लय छन्दों में जग बँध जाता

बंग-वन्दना

छन्द से लघु ग्राम तेरे
खेत लय विश्राम तेरे

(७) यामा

तब बुझते तारों के नीरव
नयनों का यह हाहाकार
+ ÷
शून्य से टकराकर सुकुमार
करेगी पीड़ा हाहाकार
+ +

पूँछता आकर हाहाकार
कहाँ हो जीवन के उस पार ?

बंग-वंदना

वेणुवन में भटकता है
एक हाहाकार का स्वर

(८) यामा (सांध्यगीत, २१८

अमरता-सुत चाहता क्यों
मृत्यु को उर में बसाना ?

बंग-वन्दना

अमर पुत्र पुकारते तेरे अजर आराधना ले !

श्रीमती जी ने अपनी कविताओं में स्थान-स्थान पर प्रकृति देवी या उसके किसी अंग को सजीव मूर्त्तिमान कर सुन्दर वस्त्र पहिना कर ही कल्पना की है। 'यामा' में 'नीरजा' के—

(१) मलयानिल का चल दुकूल अलि
(२) रैन बोली सज कृष्ण दुकूल
(३) लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल
(४) सज केसर पट तारक बेंदी

और सांध्यगीत में "नभ के नवरंग बुनते दुकूल" से श्रीमती जी का वस्त्रों के प्रति अत्यधिक प्रेम प्रकट होता है। 'बंग-वन्दना' में भी कविता देवी को 'चिर हरित पट' इसी परम्परा के अनुसार पहिनाना पड़ा है !!!

ऊपर के उदाहरणों से यह प्रत्यक्ष है कि 'बंगवन्दना' की पृष्ठभूमि पर तत्कालीन अकाल के भावों के मुक़ाबिले में रहस्यवादी विरह-वेदना के भावों का ही अभाव अधिक था। दोनों भाव एक

दूसरे से स्वतंत्र और एक दूसरे के विपरीत हैं। एक को दूसरे के साँचे में नहीं ढाला जा सकता। जो भाव एवं शब्द रहस्यवादी कविता को सरसता देते हैं वही बंगाल के अकाल के वर्णन में नीरस एवं हास्यास्पद भी हो सकते हैं। श्रीमती जी ने इस तरफ़ विचार नहीं किया !! जैसा हम आगे देखेंगे, एक को दूसरे के साँचे में ढालने के प्रयत्न में चित्त-भ्रान्ति हो जाने के कारण 'बंग-वन्दना' की कविता बिलकुल बिगड़ गई है।

अब 'बंग-वंदना' के कुछ छंदों को देखना उचित होगा। 'बंग-भूमि' को कविता सुन्दरी बना दिया तो हमारा ख्याल यह था कि या तो 'अंग राग', 'माँग में भरा पराग' आभूषण, इत्यादि का वर्णन होगा; या बंगाल की नदियाँ, पर्वत, नगर, ग्राम, प्राकृतिक दृश्य इत्यादि को हृदय, भाव, नवरस, अलंकार, ध्वनि, अभिव्यञ्जना, प्रतिभा, गुण, रीति इत्यादि की मूर्त्ति बना कर कविता-देवी का शृंगार किया गया होगा; या प्राचीन गौरव कालिदास आदि की याद दिला कर वर्त्तमान अवस्था दिखाई गई होगी। परन्तु यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि 'वन्दना' में ऐसा कहीं नहीं दिखाया गया !! प्रारंभिक शब्दों को हम ऊपर लिख चुके हैं। उनके बाद दो निम्नलिखित छन्द हैं :—

(१)

अंक में झेला कठिन अभिशाप का अंगार पहिला
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया शृंगार पहिला
तिमिर सागर हरहरात,
संतरण कर ध्वंस आता,
तू मनाती है हलाहल घूँट में त्यौहार पहिला,
नील कण्ठिनि ! सिहरता जग स्नेह कोमल-कल्पना ले !

(२)

वेणुवन में भटकता है एक हाहाकार का स्वर,
आज छाले से जले जो भाव से थे सुभर पोखर

छन्द से लघु ग्राम तेरे
खेत लय विश्राम तेरे
बह चला इन पर अचानक नाश का निस्तब्ध सागर !
जो अचल बेला बने तू आज वह गति साधना ले !

पहिले छंद में यह पंक्तियाँ :

तिमिर सागर हरहराता
संतरण कर ध्वंस आता

ध्यान देने योग्य है। नाना रंग से रंगी हुई संध्या को घना अन्धकार थोड़ी देर में ही समाप्त कर देता है। इसीलिए अन्धकार का सागर यहाँ पर लाना समुचित ही था। इस सागर को तैरता हुआ ध्वंस भी आता है; अथवा यह सागर ही ध्वंस को तैरता हुआ आता है ? 'तैरता' और 'संतरण करता' में यही भेद है कि जहाँ 'तैरता' में बिना ध्वनि किए—बिना आवाज़ किए चुपचाप तैरता हुआ सूचित होता है; 'संतरण' में ध्वनि-शक्ति प्रबल होती है। ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति मरने-मारने के इरादे से 'रण' के लिए तैर रहा है

पहिले छन्द में जो सागर हरहराता हुआ आ रहा है वही दूसरे छन्द में सहसा निस्तब्ध हो गया है !! यह कैसे ?

अब इस 'नाश' और 'ध्वंस' में क्या भेद है ? या केवल 'ध्वंस' में फिर ध्वनि-शक्ति है—Sound Force है। एक दम नीचे गिरकर टुकड़े टुकड़े हो जाने में—अथवा 'अर्रा' कर सहसा मकान के गिरने में 'ध्वंस' की 'ध्वनि-शक्ति' प्रतीत होती है। 'नाश' में ध्वनि-शक्ति का अभाव होता है। 'ध्वनि' अदृश्य होती है। अपने आप ही अन्त हो गया—ऐसा भाव 'नाश' शब्द में होता है।

काव्य में ध्वनि-शक्ति पर गोस्वामी जी से लेकर गिरिधर कविराय तक—सभी प्राचीन कवियों ने ध्यान दिया था। परन्तु यह दुःख का विषय है कि आज के बड़े-बड़े कवियों का ध्यान भी

इस तरफ़ नहीं गया। श्री महादेवी जी के काव्य में जहाँ माधुर्य एवं स्निग्धता की प्रचुर मात्रा है वहाँ ध्वनि-शक्ति का अभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। जो ध्वनि-शक्ति गिरिधर कविराय की साधारण कविता :—

'नैया मोरी तनिक सी, बोझी पाथर भार'

में आ गई है वह आधुनिक असाधारण कवियों के उत्तम काव्य में भी नहीं आ पाई। 'बोझी पाथर भार' के शब्द ही ऐसे पथरीले, भारी, बोझीले से हैं और "नैया मोरी तनिक सी" के शब्द इतने कोमल और तनिक से, हलके से हैं कि अपने आप पढ़ते ही हृदय में यही भाव आ जाते हैं कि वास्तव में एक छोटी सी नाव में चट्टान से तोड़े हुए पत्थर भरे हुए हैं !!

इस लेख में ध्वनि-शक्ति का विषय यह दिखाने के लिए लाया गया है कि 'बंग-वंदना' के ऊपर उद्धत किए दोनों छन्दों में प्रत्यक्ष विरोधाभास है। पता नहीं चल पाता कि कवयित्री जी के 'अन्धकार का' या 'नाश का' सागर शोर-गुल करता हुआ है या एक दम 'निस्तब्ध' हो रहा है !! यह भी पता नहीं चल पाता कि अन्धकार के सागर में 'ध्वंस' तैर रहा है या यही 'नाश' का सागर भी बन गया है !!

श्रीमती जी का यह कहना सर्वथा सही है कि कविता में "यथार्थ का पूरा चित्र तो हृदय को छू ही नहीं सकेगा। छू तो वही अधूरा चित्र सकता है जिसमें चित्रकार ने रेखा-रेखा न मिला कर आत्मा मिलाई है।

परन्तु दुःख इस बात का ही है कि इस 'बंग-वन्दना' में न तो रेखा ही मिल पाई और न आत्मा ही !! निस्तब्ध सागर यहाँ पर छन्द, लय, स्वर और भावों पर ही बह चला है; हृदय फिर भी अछूता रह गया है !!

अब, 'कविता' सुन्दरी बंग-भूमि है; बंगाल के छोटे ग्राम ही कविता के छन्द हैं; बंगाल के खेत ही कविता के 'लय-विश्राम' हैं !! 'वेणुवन' (शायद सुन्दर वन या रास की मुरली वाला वन !) में हाहाकार का स्वर सुनाई पड़ रहा है। यह ठीक ही है ! बड़े बड़े नगर छोड़ दिए गए यह भी ठीक है—या शायद वह कविता में 'महा-काव्य' होंगे जो बचा दिए गए !! फ़सल तो अच्छी थी परन्तु खेतों पर ही सागर बहा दिया गया !!!

बंगाल के 'सुभर पोखर' ही कविता के 'भाव' हैं परन्तु वह 'छाले' से जल गए हैं !! एक बात अवश्य है ताल ही ताल जले हैं; बड़ी बड़ी नदियाँ (हुगली सरीखी) बिलकुल अछूती रह गईं; !! समुद्र में वड़वानल भी जला देता है !! फिर अन्धकार के सागर में क्यों न अग्नि होगी ? उसे भी जलाने को केवल 'सुभर पोखर' ही मिले !! पोखरों में 'कमल' के फूल जले होते तो शायद वीभत्स रस का परिपाक हो जाता !! आखिर कवि की कल्पना ही तो है !!

एक बात रह गई। पहिले छन्द में तीन बार 'पहिला', 'पहिला', 'पहिला', आया है। कवयित्री जी का कहना है कि 'कविता' देवी ने यह पहिली बार 'कठिन अभिशाप का अंगार' झेला है, पहिली बार ज्वाला से लिपट कर अपना अभिषेक किया है; और; पहिली बार हलाहल का घूँट लेकर त्यौहार मनाया है। इसीलिए 'नीलकंठिनि' भी बना दी गई !! क्या आदिकाल के अब तक इतिहास में यह पहिला ही अवसर था जब 'सुभर पोखर' तक जल गए, या यह बृटिश काल के इतिहास में ही पहला अवसर था ? इस प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिलता !! न जानें कितने युद्ध, महामारी, अकाल, भूकम्प हुए होंगे; न जानें कितनी बार, परतंत्रता के एक सहस्र वर्ष में बंग-भूमि को 'नीलकंठिनि' बनना पड़ा होगा !! यह दूसरी बात है कि फसल अच्छी होते हुए भी मनुष्य कृत ऐसा काण्ड अभी तक नहीं हुआ होगा ! परन्तु इस

बात का कविता में कहीं भी इंगित तक नहीं किया गया !! वहाँ तो 'नीलकंठिनि' बनाने से तात्पर्य था। नाश के सागर' ने जब 'स्वर', 'भाव'. 'लय-विश्राम' और 'छन्द' सभी समाप्त कर दिए थे तब भी क्या 'कविता देवी' बची ही रहीं ? या 'नाश' और ध्वंश के सागर को कविता देवी अपने कंठ में ही रोके बैठी रहीं ? यदि रोकने में सफल हुई होंगी तो स्वर, लय, छन्द, भाव बचे रहे होंगे !! मगर वे तो सब जला दिये गए !! और प्रारम्भ में 'अमर कविता' कह चुकीं थीं इसीलिए कविता को जीवित भी रखना पड़ा !!

वास्तव में यहाँ रुद्र रूप था। और जब रुद्र देव हलाहल का घूँट लेकर 'नीलकण्ठ' बन चुके थे तो प्रणयानुभूति के लिए किसी-न-किसी को नीलकंठिनि बनाना तो था ही !! सामने बेचारी बंगभूमि थी ! बस उसी को नीकवंठिनि बना दिया गया !! यह याद नहीं रहा कि कविता देवी का 'नीलकंठिनि' बनाना ठीक न होगा !! वास्तव में, यहीं पर छायावाद, रहस्यवाद और यथार्थ-वाद का सम्मिलन हो पाया है !!!

× × × ×

तीसरे और चौथे छन्द निम्नलिखित हैं:—

(३)

शक्ति की निधि अश्रु के क्या श्वास तेरे तोलते हैं ?
आह तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन बन डोलते हैं ?
अस्थियों की ढेरियाँ हैं,
जम्बुकों की फेरियाँ हैं,
'मरण केवल मरण' क्या संकल्प तेरे बोलते हैं ?
भेंट में तू आज अपनी शक्तियों की चेतना ले !

(४)

किरण-चर्चित, सुमन-चित्रित,
खचित स्वर्णिम-प्यालियों से,
चिरहरित पट है मलिन शत शत चिता-धूमालियों से
गृद्ध के पर छत्र छाते,
अब उलूक विरुद सुनाते
अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर-प्यालियों से।
मृत्यु-क्रन्दन गीत गाती, हिचकियों की मूर्च्छना ले!

ऊपर लिखे हुए प्रथम छन्द में तीन प्रश्न कविता देवी मानी हुई वंग-भूमि' से किए गए हैं :—

(१) क्या तेरे अश्रु के श्वास शक्ति की निधि को तोलते हैं? या तेरे श्वास अश्रु के शक्ति की निधि को तोलते है?

(२) आह! क्या तेरे स्वप्न कंकाल बन-बन डोलते हैं?

(३) क्या तेरे संकल्प 'मरण, केवल मरण' बोलते हैं?

अगर इन प्रश्नों का उत्तर 'ना' में है, तो कोई बात नहीं है! परन्तु यदि 'हाँ' में है, तो "हम तेरी सहायता करने को तैयार हैं परन्तु हमारे पास सिवाय 'वन्दना' के कुछ नहीं है। इसलिए भेंट में तू हमसे कुछ भी आशा न कर। भेंट में तू अपनी ही शक्तियों की चेतना ले ले।" कितनी अच्छी युक्ति है? कितनी अच्छी भेंट है? तेरी वस्तु तुझे ही अर्पण करते हैं!! तुभ्यं समर्पयामि'। 'हर्रा-लगै न फटकरी रंग चोखा आवै'!! मानव-कंकाल तो स्वप्न सरीखे मिथ्या हैं। उनका क्या प्रबन्ध करना!! अपने आप मिट जायँगे!

पर, कविता देवी की शक्ति की चेतना कहाँ से आवेगी? ऊपर छन्द, विश्राम, लय, भाव तो सब जला चुके हैं!! परन्तु उसके अंग जला चुकने के बाद उसे 'नीलकंठिनि' भी तो बना चुके हैं! शक्ति

की चेतना का प्रबन्ध भी तो कर दिया है ! मानव-कंकाल को चेतना की घुटी पिलाओ, शायद उठ खड़ा हो !! मिथ्या स्वप्न शायद सच्चा हो जाय !!

अब प्रश्न और भेंट तो हो चुके। तो भी दो पंक्तियाँ रह गईं:—

अस्थियों की ढेरियाँ हैं,
जम्बुकों की फेरियाँ हैं,

कहाँ तो संकल्प, और स्वप्न का वर्णन और श्वासों का तोला जाना !! और कहाँ एकाएक 'ढेरियाँ' और 'फेरियाँ' की तुक !!! जहाँ तीनों प्रश्न आध्यात्मिक दर्शन की ओर ले जाते हैं वहाँ यह तुकबन्दी तत्कालीन बंगाल की दशा के दर्शन का एक मात्र उदाहरण प्रतीत होती है। 'दर्शन' के दोनों अर्थ यहाँ बुरी तरह आपस में प्रेमालिंगन करते उसी प्रकार दिखाए गए हैं जिस प्रकार छायावादी कविता में किसी शेफाली कुञ्ज के नीचे अन्धकार और चाँदनी के प्रकाश का आलिंगन दिखाने की परिपाटी चल पड़ी है।

'जम्बुकों की फेरियाँ'—कितने सुन्दर शब्द हैं ? क्या इससे यह बोध हो जाता है कि अन्न न मिलने से असंख्य मनुष्य प्रतिदिन मर रहे थे !!

'अस्थियों की ढेरियाँ'—'ढेर' न रख कर 'ढेरी' का बहुवचन लाना क्यों श्रेयस्कर समझा गया ? फिर 'अस्थियों' और 'ढेरियाँ' के सम्मिलन से तो 'हड्डियों की ढेरियाँ' ही अच्छा रहता क्योंकि यह तो कंकाल की तो 'अस्थि' थीं ही। हड्डियों से अधिक तो रखा क्या था ? भाषा-दृष्टि से 'हड्डियों की ढेरियाँ' अच्छा भी रहता। परन्तु बोध यह होता है कि "कविता सुन्दरी के स्वप्न" कंकाल बन जंगल में डोलते-डोलते थक के गिर पड़े हैं और उन स्वप्नों की अस्थियों के ढेरों—नहीं ढेरियों—को देखने, बार-बार चीमटा बजाकर कनफटा बाबाजी लोग, जम्बुकों के रूप में, फेरियाँ लगा-लगा कर कह रहे हैं कि "अरे हम तो स्वप्नों को झूँठा समझते

थे परन्तु हड्डियाँ भी पड़ी हैं। ओहो! अब तो स्वप्न भी सत्य होने लगे।"

चौथे छन्द में भी फिर 'दर्शन' शब्द के दोनों अर्थों का सम्मिश्रण दिखाया गया है। 'कविता सुन्दरी' का चिर हरा वस्त्र है। वह 'किरण चर्चित' और 'सुमन-चित्रित' है। छायावाद में 'किरण' और 'सुमन' से आशा और नवउल्लास का बोध होता है। कहीं-कहीं 'किरण' से ज्ञान का भी तात्पर्य ले लिया जाता है। जिस समय जैसा कवि का मन होता है, अर्थ बना लिया जाता है!! 'स्वर्णिमबालियों' का 'कान की बालियों से' तात्पर्य तो साधारण भाषा में होता है, श्रीमतीजी का तात्पर्य शायद "जौ, गेहूँ आदि की बाल" से है। 'खचित स्वर्णिम-बालियों से' क्या अर्थ हुआ?

साधारण भाषा में तो यह अर्थ होगा कि "सोने की बालियों से कान खींचे जा रहे हैं"। परन्तु यहाँ वस्त्र का वर्णन है। तो अर्थ होगा कि सुनहरी बालों से इस वस्त्र पर चिह्न पड़ चुके हैं!! कैसे चिह्न पड़ चुके हैं? कविता सुन्दरी के वस्त्र क्या ऐसे चिह्नों से बिगड़ न जायँगे?

परन्तु यहाँ यथार्थवाद के भाव हैं—छायावाद की छाप है!! कहना यह है कि बंग-भूमि शस्य-श्यामला है और कही जा रही है यही बात आसमानी भाषा में!!!

'बालियों से तुक मिलाने के लिए 'शत-शत चिता धूमालियों' लाना पड़ा। क्या अर्थ हुआ? शायद यह कि सौ-सौ चिताओं की पंक्तियों के धुआँ से चिर हरा वस्त्र मलिन हो गया। परन्तु भाषा में 'चिताओं की पंक्तियाँ' तो बन न पाईं; धुआँ की पंक्तियाँ बना दी गई हैं। ऊपर को उठते धुआँ की तो वैसे ही पंक्तियाँ बन जाया करती हैं। परन्तु कविता में क्षैतिज पंक्तियाँ (Horizontal) तो भी नहीं बन पाईं!! (Vertical) ऊर्ध्वाधर पंक्तियों से संतोष करना पड़ता है!! कविता-देवी का चिर हरा वस्त्र न जानें कैसा

है ? उसको मलिन करने के लिए क्या ये ऊर्ध्वाधर पंक्तियाँ पर्याप्त हैं या नहीं ?

हमने तो सुना था और अखबारों में भी पढ़ा था कि कंकालों की अस्थियाँ कहीं तैयार नहीं हो पाई थीं और न कहीं चिता का ही प्रबन्ध हो पाया था—जहाँ तहाँ कंकालों के शव ही शव पड़े थे !! परन्तु 'बंग-दर्शन' के 'बंग-वन्दना' में कहीं उसकी ओर इंगित तक नहीं किया गया !!

अब; मृत्यु तो क्रन्दन करके गीत गा रही है और हिचकियों का आना जाना है वही उस गीत का उतार-चढ़ाव है !! और 'कपाल' "शून्य कोटर प्यालियों" से अर्घ्य दे रहे हैं। वृक्षों के खोखले 'कोटर' कहलाते हैं। 'कोटर' ही सूनी प्यालियाँ हैं जिनसे कंकालों के कपाल अर्घ्य दिए जा रहे हैं !! शायद अर्घ्य और प्यालियों का नया सम्बन्ध स्थापित हो रहा है !! अभी तक अर्घ्य-पात्रों से अर्घ्य देने की प्रथा थी। अर्घ्यपात्र न होते तो अंजुली से ही अर्घ्य दिया जाता था। परन्तु कपालों के अंजुली नहीं थीं; कोटर न तो अंजुली ही बन सकते थे और न अर्घ्यपात्र !! इसलिए उनको "प्यालियाँ" ही बना दिया गया !!! यदि किसी को रस या चाय के प्याले पिलाने की आवश्यकता आ जाय तो प्यालियाँ तो अर्घ्य देने को रख ली जायँगी और अर्घ्यपात्र से रस और अंजुली से चाय पिलाई जाया करेगी !!! कवि का मन ही तो है !! 'बालियों', 'धूमालियों' के लिए तुक की जरूरत थी इसलिए प्यालियों से अर्घ्य दिया जाना आवश्यक हुआ !!!

इसके बाद गृद्ध के पंख हैं वही छत्र छा रहे हैं। और उलूक विरुद सुना रहे हैं ! पर यह तो नहीं बताया गया कि छत्र किस पर छाये जा रहे हैं ? विरुद किसको सुनाए जा रहे हैं ? अर्घ्य किसको दिए जा रहे हैं ? शायद कविता सुन्दरी को !! या उसके चिरहरित पट ही को !! जो मन में आवे समझ लीजिए !!

कवि का काम तो बेल-बूटे की शब्द-मयी रचना खड़ा कर देना है। और कवयित्री जी ने अपना कर्त्तव्य-पालन कर दिया !! किसी गहरी चोट का निदर्शन कविता में अगर नहीं आ पाया तो भी 'वाह्य सौंदर्य की इन्द्र धनुषी रेखाएँ' तो दिखला दी हैं !!

वास्तव में यह कविता न तो बंगाल के अकाल का ही हाल बतला रही है और न 'वन्दना' ही बन पाई है !! न तो कविता सुन्दरी का ही सांगरूपक है और न तिमिर सागर का ही। न तो छायावाद ही है और न यथार्थवाद ही !! दोनों को मिला कर 'स्मशान' का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें भाषा भी बिगड़ गई है !! 'स्मशान' का दृश्य भी तो सफल नहीं बन पाया !!

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का निम्नलिखित दृश्य सीधी-सादी भाषा में कहीं अधिक वर्णन-पटुता लिए हुए है। पढ़ते ही स्मशान का दृश्य आँखों के सन्मुख आ जाता है :—

रुरुआ चहुँ दिसि ररत, डरत सुनि के नर-नारी
फटफटाय दोउ पंख, उलूकहु रटत पुकारी
अन्धकार बस गिरत, काक अरु चील करत रव
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भपद रव
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वानभूँकि डरपावईं
संग दादुर झींगुर रुदन धुनि, मिलि स्वर तुमुल मचावईं

शृगाल, गिद्ध, उलूक का जो यहाँ वर्णन है वही बंग-दर्शन में ध्वनि-शक्ति रहित हो 'स्मशान' में भी इन्द्रधनुष का दृश्य दिखलाने का प्रयत्न कर रहा है !!

वास्तव में जो वेदना-प्रधान कवयित्री 'यामा' में इतनी सफल हुईं वही एक छोटी-सी कविता में इतनी असफल रह जायँगी, यह असम्भव-सा प्रतीत होता था !!

अब, एक दूसरा छन्द :—

भृकुटियों की कुटिल लिपि में सरल सृजन विधान भी दे
जननि अमर दधीचियों की अब कुलिश का दान भी दे

\+ + +

आज रुद्राणी ! न सो निष्फल पराजय वेदना ले !

कविता सुन्दरी 'स्मशान' के अनन्तर जननि और रुद्राणी बन जाती है 'हड्डियों की ढेरियाँ' ऊपर देख चुके हैं शायद उन्हीं के बज्र बनाए जाकर 'अमर दधीचियों' को दिये जा रहे हैं। 'रुद्राणी'—(या नीलकंठिनि से) कहा जा रहा है कि "निष्फल वेदना लेकर आज मत सो"—कल शायद भले ही सो जाना !!! कविता सुन्दरी की पराजय-वेदना का क्या अर्थ है ? कुछ भी तो पता नहीं चल रहा !!

बंगाल के महान व्यक्तियों का वैभव भी छायावादी दुर्गम पथ में ही दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यथा:—

तुंग मन्दिर के कलश को धो रहा 'रवि' अंशुमाली,
लीपती आँगन विभा से वह 'शरद' विधु की उजाली,

यह "कविता सुन्दरी" का मन्दिर है, या उसके 'हरित पट' का अथवा रुद्राणी, जननि या वंग-भूमि का ? श्री रवीन्द्र बाबू सूर्य होकर किसी न किसी मन्दिर के किसी न किसी ऊँचे कलश को धो रहे हैं और मन्दिर के आँगन को शरदचन्द्र की चाँदनी के गोबर से लीप रहे हैं। जहाँ छायावाद ने खड़ी बोली को स्निग्धता, कोमलता, सुकुमारता और मार्दव प्रदान किया वहाँ बहुत से ग्रामीण प्रयोगों की भरमार से भाषा को लीपा-पोता भी गया है। 'ताल', 'तालाब', 'सर', सरोवर' न कहकर 'पोखर' से प्रेम हम ऊपर देख चुके हैं। यहाँ चाँदनी से आँगन ही लीपा गया है !! कई शब्द ऐसे हुआ करते हैं जो कालान्तर में एक ही अर्थ में लाए जा

सकते हैं उनका प्रयोग दूसरे अर्थ में नहीं किया जा सकता। 'लीपना' ऐसा ही शब्द है। 'लेप' और 'लीपना' में भेद है। जहाँ 'चन्दन का लेप' कहा करते हैं वहाँ 'लीपना' में 'गोबर और पीली मिट्टी' का मिश्रण आवश्यक हो चुका है। 'लीपना' सुनते ही 'गोबर और मिट्टी' से लीपना ही समझा जा सकता है। परन्तु छायावादी कवियों ने अपनी-अपनी कविता में 'चाँदनी' से ही 'भाषा के आँगन' को अच्छी तरह लीप देने में असाधारण प्रतिद्विन्द्विता दिखाई है !!

जहाँ पन्तजी ने 'उल्लुओं' का रंग श्वेत मान लिया हो वहाँ श्रीमती महादेवी जी ने 'चाँदनी' का रंग गोबर सदृश्य मान लिया हो तो आश्चर्य की तो कोई बात नहीं है !

× × ×

छायावाद और प्रतीकवाद में सभी जगह कल्पना का ऐसा ही हाल हुआ है। 'बंग-वंदना' में भी पदावली की तड़क-भड़क मिलती है। कल्पना केवल अप्रस्तुतों की योजना द्वारा बंगाल के अकाल का स्वप्न-मात्र दिखलाने के प्रयत्न में व्यर्थ नष्ट की गई है !! परिणाम यह हुआ है कि न तो लाक्षणिक वैचित्र्य ही काव्य में आ पाया है और न बंगाल के अकाल का ही कुछ भी हाल बतलाया जा सका है। ऐसा मालूम होता है कि 'रहस्यवाद' का पौधा यथार्थवाद की भूमि में आते ही मुर्झा जाता है।

कवयित्रीजी की कविता समझने के लिए मानसिक श्रम और श्रद्धा के सम्बल की अत्यधिक आवश्यकता बताई गई है। मानसिक श्रम तो प्रत्येक पाठक ने ही किया होगा; परन्तु श्रद्धा के सम्बल के लिए बुद्धि पर कम्बल डालने की आवश्यकता होती है !!

अवश्य, प्रसन्नता इस बात से हो रही है कि रहस्यवादी कवियों में अग्रगण्य, वेदना-प्रधान कवयित्री ने भी देश के घोर संकट के समय आगे आकर जैसा कुछ बना, समय के अनुसार, सेवा करने में हाथ बटाया। प्रत्येक भाषा-भाषी सज्जन उनका हृदय से आभारी

है। प्रतीत यह भी हो रहा है कि त्रस्त और पीड़ित बंग-भूमि भी, आभार प्रदर्शन के लिए, उल्टी, देवी जी की ही वन्दना निम्न-लिखित रूप में कर रही है:—

देवि ! शत शत वन्दना ले !
भव्य भाषा की सरस 'यामा' हमारी वन्दना ले !
साध्य से साधक मिलें सदियों पुरानी यह कहानी !
अन्न, शक्ति स्वतन्त्रता, तज,—आत्म-चिन्तन-निरत, ज्ञानी !!
चतुर्दिशि फिर भी अँधेरा
नहीं हो पाया सवेरा !
दीप जल कर मन्द है, पर दूर है रवि की निशानी !!
उलझनों का जाल तज, सुलझे जगत की सर्जना ले !
देवि ! शत-शत वन्दना ले !
अंगराग, पराग, सौरभ, मलय, रश्मि, प्रकाश, छाया।
मधु, मधुप, तारक, जलधि—सब मनुज हित ही तो बनाया।
फिर असीम-ससीम-माया
चिर मिलन नर में समाया
ब्रह्म ही तो यह मनुज है; शून्य में किसने भ्रमाया ?
विरह-वेदन छोड़ अब, संयोग युग की कल्पना ले !
देवि शत-शत वन्दना ले !
रूढ़िवादी दुर्ग को विध्वंस कर, नव चेतना ले !
काल-सीमा-हीन, निष्क्रिय-स्वप्न, 'जन सक्रिय' बना ले !
तार तन्त्री का न टूटे,
भाग्य भाषा का न रूठे;
छोड़ 'छायावाद' दुर्गम, सुगम कोई साधना ले !
भारती-जागरण के नव-मंत्र की आराधना ले !!
बंग-भू की वन्दना ले !
देवि ! शत-शत वन्दना ले !

अनुक्रमणिका

प्रथम खंड—भाग १ व २

अकबर नामा १८३
अनौचित्य (भूमिका २१)
अमीर १६
अमृत और विष (भू० १४)
अल्हड़ प्रवृत्ति १६५; १७२
अवगुंठन युग १; २; ६६: १११
अशोक (काव्य) (भूमिका २६)
आरसीप्रसादसिंह (भू० ११)
इकबाल नामा १८३
इलाचन्द्र जोशी १३८; १४०; २३२ से २३४: २३५
इलियट (टी० एस) (भू० १०)
इंशा सैयद १६७
उदयशंकर भट्ट (भू १४)
उन्मुक्त (भू० २४)
ओरायन १०८
औचित्य विचार चर्चा २१५
कामायनी २१ से ६८; १६२
कार्लमार्क्स ४८
कालिदास १३४; २१७
काव्यादर्श २१३
कीट्स ६५
कुंकुम (भू० २५); ११२
कुरुक्षेत्र (भू० २७)
केशवप्रसाद मिश्र १४० से १४४
कुल्हड़ प्रवृत्ति १६५; १६८
कृष्णदास (राय) ६२; १००
गण देवता (भू० २४)
गालिब मिर्ज़ा १०२
गीता २६; ४४
गुंजन ६६ से ७८
गुरुभक्तसिंह ठाकुर) २१० से २१८
गोपालशरणसिंह (ठाकुर) १६६ से २०६
गौरीशंकर हीराचंद ओझा १६६
घनानन्द १; ६४
छान्दोग्य उपनिषद् ४८
छायावाद (भू० ८, ६, १०); ६३ से ६६; २६२; २६४
ज्योतिष्मती १६६ से २०६
जादूगरनी (भू० २६); ११८
जिगर (शायर) १०२
जुरअत शेख) ११२
टर्ट्यूलियन २७
तिलक (लोकमान्य) १०८
तुलसी (गोस्वामीजी); भूमिका १०]: २०६–७;
तुलसीदास (काव्य-ग्रंथ) ७६ से ८६
दण्डी (आचार्य) २१३
द्वन्दगीत १४५ से १५८
दिनकर (भू० २७); १४५ से १५८; १६२

दि० सिक्रेट डॉक्ट्रिन २८
नगेन्द्र (प्रोफेसर) ६६, ७७; ७५; ७६, ६३; १७५
नरेन्द्र शर्मा १५६ से १७६
नवीन (पं० बालकृष्ण शर्मा) (भू० २५)
निराला ७६ से ६३; ६८; १२६; १६२; २३०; २३१; २३५
निशा निमंत्रण ४; ६ से २०
नूरजहाँ २१० से २१८
नूह् नारवी १४
प्रतीकवाद (भू० ८ से १०)
प्रसादजी २१ से ६८
पद्म पुराण २६; ४४
पद्मसिंह् शर्मा १
फ्रेजर २७
ब्रह्म पुराण ३० से ३३
ब्लेक (भू० १०)
ब्लैवेटस्की (मैदम) २८
बंगदर्शन (भू० १६); २२६ से २६५
बच्चन, ४;६ से २०: ७२; ६८; १२१; १२६
बदाउनी १८२
बाईबिल २७
बिहारी (भू० १०)
भगवती चरण वर्मा (भू० २४)
भविष्य पुराण २६
भैरवी २१६ से २२८
मत्स्य पुराण २६; ३०, ३१
मद्भागवत् २५; २७ से ३१: ३७; ३६
मधुकण; (भू० २५); १६२
महादेवी वर्मा २; ४; १२; १८; ६७ से १३०; २४६ से २६५
महाभारत २४: २५: २७ से ३४; ३७; ३६
महावीरप्रसाद द्विवेदी ७६; ६३, ६४; ११६;
माखनलाल चतुर्वेदी १३६ से १३८ २३६; २३८
मारकण्डेय पुराण ४४
मुन्तखबुत्तवारीख १८२
मुहम्मद इक़बाल (सर) १४
मैथिलीशरण गुप्त ५ से ६; १२६
यशोधरा ५ से ६
यामा ६७ से १३०, १६२
रसवन्ती १४५ से १५८
रामकुमार वर्मा २३५ से २४६
रामतीर्थ (स्वामी) ६५
रामदयाल पांडेय (भू० २४, २६)
रामायण वाल्मीकीय ३१ से ३६
वर्डस्वर्थ ६; १६२
विजनवती १३८ से १४०
विनय पत्रिका २०६
वीर विनोद १८३; १६४
श्यामनारायण पांडेय १८०से १६८
श्यामलदास (कविराज) १६४

शतपथ ब्राह्मण २३; २५ से ३१; ३७; ४३
शाण्डिल्य सूत्र ४५
शिव महिम्न स्तोत्र १०८
शैली (कवि); ६५; १०७
साहित्य दर्पण १०६
सुन्दर २०५
सुमित्रानन्दन पन्त २; १४; ६६ से ७८; १२६; १६२; १६५ १६८
सोहनलाल द्विवेदी १७७; २१६ से २२८
संचयिता (भू० ११)
संचिता १६६ से २०६
हल्दीघाटी १८० से १६८
हसरत मौहानी (मौलाना) ६६
हाली (मौलाना) ६५
हिमकिरीटिनी १३६ से १३८; २३६; २३८
क्षेमेन्द्र २१५

शुद्धि–पत्र

(प्रथम खण्ड)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	देते ए	देते हुए
११	१०	बठी	बैठी
१५	५	(बोल्ड टाइप के स्थान में छोटे टाइप में होना चाहिए)	
४०	२	अकले	अकेले
४१	१५	भा	भी
४१	१६	हा	ही
४७	२३	कनुष्य	मनुष्य
६८	११	शातल	शीतल
७७	१६	सगम	संगम
८१	३	सवाय	सिवाय
८२	६	सजीवन	संजीवन
६४	२३	पढ़ती	पड़ती
१०२	८	गुज़ना	गुज़रना
१०३	१६	आय	आप
१११	१	आर	और
,,	११	कैसे	किसतरह
११५	४	क्या	ही क्या
११६	२	ह	है
१४६	२	होम	मोह
१७३	२	सरसा	सरसों
,,	११	सि	सिर
१७५ (अंतिम)		सामाएं	सीमाएं

२०१	१४	जूही ही	जूही की
२०५	१३	लदम	लदमी
२२६	२२	मामिक	मार्मिक
२३१	१५	भाषा है अच्छी	भाषा अच्छी है
२३६	१५	सतरगी	सतरंगी
२३६	११	ह	हैं
२४४ — २४५		बसन्त	वसन्त
२४५	७	भ	भी
२४८	८	बंग भ	बङ्ग भू
२५२	(अन्तिम)	अभाव	प्रभाव
२५४	१८	'या केवल' (ये शब्द काट दीजिएगा)	
२५६	१३	ह	ही
,,	२१	आदिकाल के	आदिकाल से
२६१	१२	कपाल अर्घ्य	कपाल द्वारा अर्घ्य
२६२	२०	झांगुर	झींगुर
२६२	१०	कुछ भा	कुछ भी